तस्तस्य ध्वनेरनक्षरत्वासिद्धेः । साक्षरत्वे च प्रतिनियतैकभाषात्मकमेव तद्वचनं नाशेषभाषारूपं भवेदिति चेन्न, क्रमविशिष्टवर्णात्मकभूयःपङ्क्तिकदम्बकस्य प्रतिप्राणिप्रवृत्तस्य ध्वनेरशेषभाषारूपत्वाविरोधात् । तथा च कथं तस्य ध्वनित्वमिति चेन्न, एतद्भाषारूपमेवेति निर्देष्टुमशक्यत्वतः तस्य ध्वनित्वसिद्धेः[1] । अतीन्द्रियज्ञानत्वान्न केवलिनो मन इति चेन्न, द्रव्यमनसः सत्त्वात् । भवतु द्रव्यमनसः सत्त्वं न तत्कार्यमिति चेद्भवतु तत्कार्यस्य क्षायोपशमिकज्ञानस्याभावः, अपि तु तदुत्पादने

शंका— केवलीकी ध्वनिको साक्षर मान लेने पर उनके वचन प्रतिनियत एक भाषारूप ही होंगे, अशेष भाषारूप नहीं हो सकेंगे ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, क्रमविशिष्ट, वर्णात्मक, अनेक पंक्तियोंके समुच्चयरूप और अलग अलग प्रत्येक श्रोतामें प्रवृत्त होनेवाली ऐसी केवलीकी ध्वनि संपूर्ण भाषारूप होती है ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका— जब कि वह अनेक भाषारूप है तो उसे ध्वनिरूप कैसे माना जा सकता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, केवलीके वचन इसी भाषारूप हैं, ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है, इसलिये उनके वचन ध्वनिरूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका— केवलीके अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, इसलिये उनके मन नहीं पाया जाता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उनके द्रव्यमनका सद्भाव पाया जाता है ।

शंका— केवलीके द्रव्यमनका सद्भाव रहा आवे, परंतु वहां पर उसका कार्य नहीं पाया जाता है ?

समाधान— द्रव्यमनके कार्यरूप उपयोगात्मक क्षायोपशमिक ज्ञानका अभाव भले ही रहा आवे, परंतु उसके उत्पन्न करनेमें प्रयत्न तो पाया ही जाता है, क्योंकि, उसका प्रयत्न कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि उससे आत्माका जो योग होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।

१ वयणेण विणा अत्थपदुप्पायणं ण संभवइ, सुहुमत्थाणं सण्णाए परूवणाणुववत्तीदो । ण चाणएए (चाणक्खराए?)झुणीए अत्थपदुप्पायणं जुज्जदे, अणक्खरभासतिरिक्खे मोत्तूण अण्णेसिं तत्तो अत्थावगमाभावादो । ण च दिव्वज्झुणी अणक्खरप्पिया चेव, अट्ठारससत्तसयभासकुभासप्पियत्तादो । धवला अ. पृ. ६९३ सूत्रपौरुषीषु भगवतस्तीर्थकरस्य ताल्वोष्ठपुटविचलनमंतरेण सकलभाषास्वरूपदिव्यध्वनिधर्मकथनविधानं × × कथ्यते । धवला. अ. पृ. ७०६. सा वि य णं भगवओ अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आयरियमणायरियाणं दुपयचउप्पयमियपसुपक्खिसिरीसिवाणं अप्पणो भासत्ताए परिणमइ । सम. सू. ३४. अष्टादशमहाभाषासप्तशतक्षुल्लकभाषासंज्ञ्यक्षरानक्षरभाषात्मकत्यक्ततालुदंतोष्ठकंठव्यापारभव्यजनानन्दकयुगपत्सर्वोत्तरप्रतिपादकदिव्यध्वन्युपेतः । गो. जी., जी. प्र., टी. १. × × सारयनवत्थणियमहुरगंभीरकोंचणिग्घोसदुंदुभिस्सरे उरे वित्थडाए कंठेऽवट्ठियाए सिरे समाइण्णाए पुण्णरत्ताए सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सईए जोयणणी-

प्रयत्नोऽस्त्येव, तस्य प्रतिबन्धकत्वाभावात् । तेनात्मनो योगः मनोयोगः । विद्यमानोऽपि तदुत्पादने प्रयत्नः किमिति स्वकार्यं न विदध्यादिति चेन्न, तत्सहकारिकारणक्षयोपशमाभावात् । असतो मनसः कथं वचनद्वितयसमुत्पत्तिरिति चेन्न, उपचारतस्तयोस्ततः समुत्पत्तिविधानात् ।

शेषमनसोर्गुणस्थानप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥ ५१ ॥

भवतु नाम क्षपकोपशमकानां सत्यस्यासत्यमोषस्य च सत्त्वं नेतरयोः,

शंका— केवलीके द्रव्यमनको उत्पन्न करनेमें प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी वह अपने कार्यको क्यों नहीं करता है ।

समाधान— नहीं, क्योंकि, केवलीके मानसिक ज्ञानके सहकारी कारणरूप क्षयोपशमका अभाव है, इसलिये उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता है ।

शंका— जब कि केवलीके यथार्थमें अर्थात् क्षायोपशमिक मन नहीं पाया जाता है, तो उनके सत्य और अनुभय इन दो प्रकारकी वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान— नहीं, क्योंकि, उपचारसे मनके द्वारा उन दोनों प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिका विधान किया गया है ।

अब शेष दो मनोयोगोंके गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानतक पाये जाते हैं ॥ ५१ ॥

शंका— क्षपक और उपशमक जीवोंके सत्यमनोयोग और अनुभयमनोयोगका सद्भाव

हारिणा सरेणं अद्धमागहाए भासाए भासति अरिहा धम्मं परिकहेइ । × × सा वि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो भासाए परिणामेणं परिणमइ । औप सू. ३४. व्याप्नोत्यायोजनं वाणी सर्वभाषानुगा प्रभोः ॥ तथाहुः श्री हेमसूरयः काव्यानुशासने, अकृत्रिमस्वादुपदां परमार्थाभिधायिनीम् । सर्वभाषापरिणतां जैनीं वाचमुपास्महे ॥ देवा दैवीं नरा नारीं शबराश्चापि शाबरीम् । तिर्यञ्चोऽपि च तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरम् ॥ यथा जलधरस्याम्भ आश्रयाणां विशेषतः । नानारसं भवत्येव वाणी भगवतामपि ॥ स्यात्प्रभोर्मूलभाषा च स्वभावादर्धमागधी । स्यातां द्वे लक्षणे ह्यस्यां मागध्याः प्राकृतस्य च ॥ येनैकेनैव वचसा भूयसामपि संशयाः । छिद्यन्ते वक्ति तत्सार्वो ज्ञाताशेषवचोविधिः ॥ क्रमच्छेदे संशयानामसंख्यत्वाद्वपुष्मताम् । असंख्येनापि कालेन भवेत् कथमनुग्रहः ॥ शब्दशक्तेर्विचित्रत्वात् सन्तीदृशि वचांसि च । प्रयुक्तैकतरं यस्या-युगपद्भूयसामपि ॥ सरःशरस्वरार्थेन भिल्लेन युगपद्यथा । 'सरो नत्थि' त्ति वाक्येन प्रियास्तिस्त्रोऽपि बोधिताः ॥ लो. प्र. ३०, ६३४–६४२. सर्वार्धमागधीया भाषा भवति, कोऽर्थः ? अर्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकं, अर्धं च सर्वभाषात्मकं । कथमेव देवोपनीतत्वं तदतिशयस्येति चेत् ? मगधदेवसन्निधाने तथापरिणतया भाषया संस्कृतभाषया प्रवर्तते । षट्प्रा. ४. ३२. (सं. टी.)

अप्रमादस्य प्रमादविरोधित्वादिति ? न, रजोजुषां विपर्ययानध्यवसायज्ञानकारण-मनसः[1] सत्त्वाविरोधात् । न च तद्योगात्प्रमादिनस्ते, प्रमादस्य मोहपर्यायत्वात् ।

वाग्योगभेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह--

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वचिजोगो चउव्विहो सच्चवचिजोगो मोसवचिजोगो सच्च-मोसवचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि ॥ ५२ ॥

चतुर्विधमनोभ्यः समुत्पन्नवचनानि चतुर्विधान्यपि तत्तद्व्यपदेशं[2] प्रतिलभन्ते तथा प्रतीयते च । उक्तं च--

दसविह-सच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो ।
तव्विवरीदो मोसो जाणुभयं सच्चमोसं ति[3] ॥ १५८ ॥
जो णेव सच्च-मोसो तं जाण असच्चमोसवचिजोगं[4] ।
अमणाणं जा भासा सण्णीणामंतणीयादी[5] ॥ १५९ ॥

रहा आवे, परंतु बाकीके दो अर्थात् असत्यमनोयोग और उभयमनोयोगका सद्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, इन दोनोंमें रहनेवाला अप्रमाद असत्य और उभय मनके कारणभूत प्रमादका विरोधी है ? अर्थात् क्षपक और उपशामक प्रमादरहित होते हैं, इसलिये उनके असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग नहीं पाये जा सकते हैं ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, आवरणकर्मसे युक्त जीवोंके विपर्यय ज्ञान और अनध्यवसाय ज्ञानके कारणभूत मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। परंतु इसके संबन्धसे क्षपक या उपशामक जीव प्रमत्त नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि, प्रमाद मोहकी पर्याय है ।

अब वचनयोगके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

वचनयोग चार प्रकारका है, सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग उभयवचनयोग और अनुभय वचनयोग ॥ ५२ ॥

चार प्रकारके मनसे उत्पन्न हुए चार प्रकारके वचन भी उस उस संज्ञाको प्राप्त होते हैं और ऐसी प्रतीति भी होती है । कहा भी है--

दश प्रकारके सत्यवचनमें वचनवर्गणाके निमित्तसे जो योग होता है उसे सत्यवचन-योग कहते हैं । उससे विपरीत योगको मृषावचनयोग कहते हैं । सत्यमृषारूप वचन योगको उभयवचनयोग कहते हैं । १५८ ॥

जो न तो सत्य रूप है और न मृषारूप ही है वह असत्यमृषावचनयोग है । असंज्ञी

---

१ मु. वसायाज्ञान २ मु. तद्व्यपदेशं । ३ प्रा. पं. १, ९१ । गो. जी. २२०.
४ मु. वचिजोगो । ५ प्रा. पं. १, ९२ गो. जी. २२१.

वचसो भेदमभिधाय गुणस्थानेषु तत्सत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रत्रितयमाह—

वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो बीइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ५३ ॥

मार्गदर्शक- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

असत्यमोषमनोनिबन्धनवचनमसत्यमोषवचनमिति प्रागुक्तम्, तद् द्वीन्द्रियादीनां मनोरहितानां कथं भवेदिति ? नायमेकान्तोऽस्ति सकलवचनानि मनस एव समुत्पद्यन्त इति, मनोरहितकेवलिनां वचनाभावासंजनात्[1]। विकलेन्द्रियाणां मनसा विना न ज्ञानसमुत्पत्तिः। ज्ञानेन विना न वचनप्रवृत्तिरिति चेन्न, मनस एव ज्ञानमुत्पद्यत इत्येकान्ताभावात्। भावे वा न शेषेन्द्रियेभ्यो[2] ज्ञानसमुत्पत्तिः, मनसः समुत्पन्नत्वात्। नैतदपि, दृष्टश्रुतानुभूतविषयस्य मानसप्रत्ययस्यान्यत्र वृत्तिविरोधात्। न चक्षुरादीनां सहकार्यपि,[3] सप्रयत्नात्मसहकारिभ्यः इन्द्रियेभ्यस्तदुत्पत्त्युपलम्भात्।

जीवोंकी भाषा और संज्ञी जीवोंकी आमन्त्रणी आदि भाषाएं इसके उदाहरण हैं ॥ १५९ ॥

इस प्रकार वचनयोगके भेद कहकर अब गुणस्थानोंमें उसके सत्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेके तीन सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे वचनयोग और विशेषरूपसे अनुभयवचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर संयोगिकेवली गुणस्थानतक होता है ॥ ५३ ॥

शंका— अनुभयरूप मनके निमित्तसे जो वचन उत्पन्न होते हैं उन्हें अनुभयवचन कहते हैं, यह बात पहले कही जा चुकी है। ऐसी हालतमें मनरहित द्वीन्द्रियादिक जीवोंके अनुभयवचन कैसे हो सकते हैं ?

समाधान— यह कोई एकान्त नहीं है कि संपूर्ण वचन मनसे ही उत्पन्न होते हैं। यदि संपूर्ण वचनोंकी उत्पत्ति मनसे ही मान ली जावे तो मनरहित केवलियोंके वचनोंका अभाव प्राप्त हो जायगा।

शंका— विकलेन्द्रिय जीवोंके मनके विना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और ज्ञानके विना वचनोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह कोई एकान्त नहीं है। यदि मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह एकान्त मान लिया जाता है, तो बाकीके इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि, संपूर्ण ज्ञानकी उत्पत्ति मनसे मानते हो। अथवा, मनसे समुत्पन्नत्वरूप धर्म इन्द्रियोंमें रह भी तो नहीं सकता है, क्योंकि, दृष्ट, श्रुत और अनुभूतको विषय करनेवाले मानसज्ञानकी अन्यत्र वृत्ति माननेमें विरोध आता है। यदि मनको चक्षु आदि इन्द्रियोंका सहकारी कारण माना जावे तो भी नहीं बनता है, क्योंकि, प्रयत्न सहित आत्माके सहकारकी अपेक्षा रखनेवाली इन्द्रियोंसे इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति पाई जाती है।

शंका— समनस्क जीवोंमें तो ज्ञानकी उत्पत्ति मनोयोगसे ही होती है ?

---

१ मु. अ. संजननात्। २ मु. नाशेषेन्द्रियेभ्यो। ३ मु. प्रयत्नात्म।

समनस्केषु ज्ञानस्य प्रादुर्भावो मनोयोगादेवेति चेन्न, केवलज्ञानेन व्यभिचारात् । समनस्कानां यत्क्षायोपशमिकज्ञानं[1] तन्मनोयोगात्स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात् । मनोयोगाद्वचनमुत्पद्यत इति प्रागुक्तं तत्कथं घटत इति चेन्न, उपचारेण तत्र मानसस्य ज्ञानस्य मन इति संज्ञां विधायोक्तत्वात् । कथं विकलेन्द्रियवचसोऽसत्यमोषत्वमिति चेदनध्यवसायहेतुत्वात् । ध्वनिविषयोऽध्यवसायः समुपलभ्यत इति चेन्न, वक्त्रभिप्राय[2]विषयाध्यवसायाभावस्य विवक्षितत्वात् ।

सत्यवचसो गुणनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह--

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सच्चवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगि-केवलि त्ति ॥ ५४ ॥

दशविधानामपि[3] सत्यानामेतेषु गुणस्थानेषु सत्त्वस्य विरोधासिद्धेः तत्र भवन्ति

समाधान-- नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर केवलज्ञानसे व्यभिचार आता है ।

शंका-- तो फिर ऐसा माना जाय कि समनस्क जीवोंके जो क्षायोपशमिक ज्ञान उत्पन्न होता है वह मनोयोगसे होता है ?

समाधान-- यह कोई शंका नहीं, क्योंकि, यह तो इष्ट ही है ।

शंका-- मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं, यह जो पहले कहा जा चुका है वह कैसे घटित होगा ?

समाधान-- यह शंका कोई दोषजनक नहीं है, क्योंकि, 'मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं' यहां पर मानस ज्ञानकी 'मन' यह संज्ञा उपचारसे रखकर कथन किया है ।

शंका-- विकलेन्द्रियोंके वचनोंमें अनुभयपना कैसे आ सकता है ?

समाधान-- विकलेन्द्रियोंके वचन अनध्यवसायरूप ज्ञानके कारण हैं, इसलिये उन्हें अनुभयरूप कहा है ।

शंका-- उनके वचनोंमें ध्वनिविषयक अध्यवसाय अर्थात् निश्चय तो पाया जाता है, फिर उन्हें अनध्यवसायका कारण क्यों कहा जाय ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, यहां पर अनध्यवसायसे वक्ताका अभिप्रायविषयक अध्यवसायका अभाव विवक्षित है ।

अब सत्यवचनयोगका गुणस्थानोंमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

सत्यवचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टीसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होता है ॥ ५४ ॥

दशों ही प्रकारके सत्यवचनोंके सूत्रोक्त तेरह गुणस्थानोंमें पाये जानेमें कोई विरोध

---

१ मु. शमिकं ज्ञानं । २ मु. वक्तुरभिप्राय ।

३ जणपदसम्मदिठवणाणामे रूवे पडुच्च ववहारे । संभावणे य भावे उवमाए दसविहं सच्चं ॥ भत्तं देवी चंदप्पहपडिमा तह य होदी जिणदत्तो । सेदो दिग्घो रज्झदि करो त्ति य जं हवे वयणं ॥ गो. जी. २२२, २२३.

दशापि सत्यानीति ।

शेषवचसोः गुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह— सागर जी महाराज

मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥ ५५ ॥

क्षीणकषायस्य वचनं कथमसत्यमिति चेन्न, असत्यनिबन्धनाज्ञानसत्त्वापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात् । तत एव नोभयसंयोगोऽपि विरुद्ध इति । वाचंयमस्य क्षीणकषायस्य कथं वाग्योगश्चेन्न, तत्राप्यन्तर्जल्पस्य[1] सत्त्वाविरोधात् ।

काययोगसंख्याप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायजोगो सत्तविहो--ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्स-कायजोगो वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो आहारकाय-जोगो आहारमिस्सकायजोगो कम्मइयकायजोगो चेदि ॥ ५६ ॥

औदारिकशरीरजनितवीर्याज्जीवप्रदेशपरिस्पन्दनिबन्धनप्रयत्नः औदारिक-

---

नहीं आता है, इसलिये उनमें दशों प्रकारके सत्यवचन होते हैं ।

शेष वचनयोगोंका गुणस्थानोंमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

मृषावचनयोग और सत्यमृषावचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानतक पाये जाते हैं ॥ ५५ ॥

शंका-- जिसकी कषायें क्षीण हो गई हैं ऐसे जीवके वचन असत्य कैसे हो सकते हैं?

समाधान-- ऐसी शंका व्यर्थ है, क्योंकि, असत्यवचनका कारण अज्ञान बारहवें गुणस्थानतक पाया जाता है, इस अपेक्षासे वहां पर असत्यवचनके सद्भावका प्रतिपादन किया है । और इसीलिये उभयसंयोगज सत्यमृषावचन भी बारहवें गुणस्थानतक होता है, इस कथनमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका-- वचनगुप्तिका पूरी तरहसे पालन करनेवाले कषायरहित जीवोंके वचनयोग कैसे संभव है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, कषायरहित जीवोंमेंभी अन्तर्जल्पके पाये जानेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अब काययोगकी संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग सात प्रकारका है– औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिककाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग ॥ ५६ ॥

औदारिक शरीरद्वारा (औदारिक वर्गणाओंसे) उत्पन्न हुई शक्तिसे जीवके प्रदेशोंमें

---

१ मु. तत्रान्तर्जल्पस्य ।

काययोगः । कार्मणौदारिकस्कन्धाभ्यां जनितवीर्यात्तत्परिस्पन्दनार्थः प्रयत्नः औदारिक-मिश्रकाययोगः । उदारः पुरुः महानित्यर्थः, तत्र भवं शरीरमौदारिकम् । अथ स्यान्न महत्त्वमौदारिकशरीरस्य ? कथमेतदवगम्यते ? वर्गणासूत्रात् ! किं तद्वर्गणासूत्रमिति चेदुच्यते 'सव्वत्थोवा ओरालिय-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा, वेउव्विय-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा असंखेज्जगुणा, आहार-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा असंखेज्जगुणा, तेया-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा, भासा-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा, मण-दव्व-वग्गणा--पदेसा अनंतगुणा, कम्मइय-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा त्ति'।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

न, अवगाहनापेक्षया औदारिकशरीरस्य महत्त्वोपपत्तेः । यथा 'सव्वत्थोवा कम्मइय-सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा, मण-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, भासा-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, तेया-सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, आहार-सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, वेउव्विय-सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जणगुणा, ओरालिय-सरीर-दव्व-वग्गणाए

परिस्पन्दका कारणभूत जो प्रयत्न होता है उसे औदारिककाययोग कहते हैं । कार्मण और औदारिक वर्गणाओंके द्वारा उत्पन्न हुए वीर्यसे जीवके प्रदेशोंमें परिस्पन्दके लिये जो प्रयत्न होता है उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं । उदार, पुरु और महान् ये एक ही अर्थके वाचक शब्द हैं । उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे औदारिकशरीर कहते हैं ।

शंका–– औदारिक शरीर महान् है, यह बात नहीं बनती है ?

प्रतिशंका— यह कैसे जाना ?

शंकाका समर्थन–– वर्गणासूत्रसे यह बात मालूम पडती है ।

प्रतिशंका–– वह वर्गणासूत्र कौनसा हैं ?

शंकाका समर्थन— जिससे औदारिक शरीरकी महानता सिद्ध नहीं होती है वह वर्गणासूत्र इसप्रकार है– 'औदारिकशरीर द्रव्यसंबन्धी वर्गणाके प्रदेश सबसे थोड़े हैं । उससे असंख्यातगुणे वैक्रियिकशरीरद्रव्यसंबन्धी वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे असंख्यातगुणे आहारकशरीर-द्रव्यसंबन्धी वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे तैजसशरीरद्रव्यसंबन्धी वर्गणाके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे भाषाद्रव्यवर्गणाके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे मनोद्रव्यवर्गणाके प्रदेश हैं, और उससे अनन्तगुणे कार्मणशरीरद्रव्यवर्गणाके प्रदेश हैं'।

समाधान–– नहीं, क्योंकि, अवगाहनाकी अपेक्षा औदारिक शरीरकी स्थूलता बन जाती है । जैसे कि कहा भी है––

'कार्मणशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्गणाकी अवगाहना सबसे सूक्ष्म है । मनोद्रव्यवर्गणाकी अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है । भाषाद्रव्यवर्गणाकी अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है । तैजसशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्गणाकी अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है । आहारशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्गणाकी अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है । वैक्रियकशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्गणाकी अवगाहना उससे असंख्यातगुणी है । औदारिकशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्गणाकी अवगाहना उससे

ओगाहणा असंखेज्जगुणा त्ति ।' उत्तं च—

पुरुमहमुदारुरालं एयट्ठो तं विजाण तम्हि भवं ।
ओरालियं ति वुत्तं ओरालियकायजोगो सो[1] ॥ १६० ॥
ओरालियमुत्तत्थं विजाण मिस्सं च अपरिपुण्णं ति ।
जो तेण संपजोगो ओरालियमिस्सको जोगो[2] ॥ १६१ ॥

अणिमादिर्विक्रिया, तद्योगात्पुद्गलाश्च विक्रियेति भण्यन्ते । तत्र भवं शरीरं वैक्रियिकम् । तदवष्टम्भतः समुत्पन्नपरिस्पन्देन योगः वैक्रियिककाययोगः । कार्मण-वैक्रियिकस्कन्धतः समुत्पन्नवीर्येण योगः वैक्रियिकमिश्रकाययोगः । उक्तं च—

विविह-गुण-इड्ढि-जुत्तं वेउव्वियमहव विकिरिया चेव ।
तिस्से भवं च णेयं वेउव्वियकायजोगो सो[3] ॥ १६२ ॥

असंख्यातगुणी है । कहा भी है—

पुरु, महत्, उदार और उराल, ये शब्द एकार्थवाचक हैं । उदारमें जो होता है उसे औदारिक कहते हैं, और उसके निमित्तसे होनेवाले योगको औदारिककाययोग कहते हैं ॥ १६० ॥

औदारिकका अर्थ ऊपर कह आये हैं । वही शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक मिश्र कहलाता है, और उसके द्वारा होनेवाले संप्रयोगको औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥ १६१ ॥

अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियोंको विक्रिया कहते हैं । उन ऋद्धियोंके संपर्कसे पुद्गल भी 'विक्रिया' इस नामसे कहे जाते हैं । उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे वैक्रियकशरीर कहते हैं । उस शरीरके अवलम्बनसे उत्पन्न हुए परिस्पन्दद्वारा जो प्रयत्न होता है उसे वैक्रियककाययोग कहते हैं । कार्मण और वैक्रियक वर्गणाओंके निमित्तसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जो परिस्पन्दके लिये प्रयत्न होता है उसे वैक्रियकमिश्रकाययोग कहते हैं । कहा भी है—

नाना प्रकारके गुण और ऋद्धियोंसे युक्त शरीरको वैगूर्विक अथवा वैक्रियक शरीर

---

१ प्रा. पं. १, ९३ । गो. जी. २३०. सूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणशरीराणां स्थूलत्वाभावात् कथमौदारिकत्वं ? इति चेन्न, ततः सूक्ष्मतरवैक्रियकादिशरीरापेक्षया तेषां महत्त्वेन परमागमरूढ्या वा औदारिकत्वसंभवात् । मं. प्र. टी.

२ प्रा. पं. १, ९४ । गो. जी. २३१. प्रागुक्तलक्षणमौदारिकशरीरं तदेवान्तर्मुहूर्तपर्यन्तमपूर्णं अपर्याप्तं तावन्मिश्रमित्युच्यते अपर्याप्तकालसंबन्धिसमयत्रयसंभविकार्मणकाययोगाकृष्टकार्मणवर्गणासंयुक्तत्वेन परमागम-रूढ्या वा अपर्याप्तं अपर्याप्तशरीरमिश्रमित्यर्थः । जी. प्र. टी. । तत्रौदारिकादयः शुद्धाः सुबोधाः । औदारिक-मिश्रस्तु औदारिक एवापरिपूर्णो मिश्र उच्यते, यथा गुडमिश्रं दधि न गुडतया नापि दधितया व्यपदिश्यते तत्ताभ्यामपरिपूर्णत्वात् । एवमौदारिकं मिश्रं कार्मणेन । नौदारिकतया नापि कार्मणतया व्यपदेष्टुं शक्यम् अपरिपूर्णत्वादिति तस्यौदारिकमिश्रव्यपदेशः । एवं वैक्रियकाहारकमिश्रावपीति शतकटीकालेशः । प्रज्ञापना-व्याख्यानांशस्त्वेवम्, औदारिकाद्या शुद्धास्तत्पर्याप्तकस्य मिश्रास्त्वपर्याप्तकस्येति । स्था. सू. पृ. १०१.

३ प्रा. पं. १, ९५ । गो. जी. २३२.

वेउव्वियमुत्तत्थं विजाण मिस्सं च अपरिपुण्णं च ।
जो तेण संपजोगो वेउव्वियमिस्सको जोगो[1] ॥ १६३ ॥[2]

आहरति आत्मसात्करोति सूक्ष्मानर्थाननेनेति आहारः । तेन आहारकायेन योगः आहारकाययोगः । कथमौदारिकस्कन्धसम्बद्धानां जीवावयवानां अन्यशरीरेण हस्तमात्रेण शङ्खधवलेन शुभसंस्थानेन योग इति चेन्नैष दोषः, अनादिबन्धनबद्धत्वतो मूर्तानां जीवावयवानां मूर्तेण शरीरेण सम्बन्धं प्रति विरोधासिद्धेः । तत एव न पुनः सङ्घटनमपि विरोधमास्कन्देत् । अथ स्याज्जीवस्य शरीरेण सम्बन्धकृदायुस्तयोर्वियोगो मरणम् । न च गलितायुषस्तस्मिन् शरीरे पुनरुत्पत्तिः, विरोधात् । ततो न तस्यौदारिकशरीरेण पुनः सङ्घटनमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते, न तावज्जीवशरीरयोर्वियोगो मरणम्, तयोः संयोग-

---

कहते हैं । और इसके द्वारा होनेवाले योगको वैगूर्विककाययोग कहते हैं । ॥ १६२ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वैगूर्विकका अर्थ पहले कह ही चुके हैं । वही शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक मिश्र कहलाता है । और उसके द्वारा जो संप्रयोग होता है उसे वैगूर्विकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥ १६३ ॥

जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थोंको ग्रहण करता है, अर्थात् आत्मसात् करता है उसे आहारकशरीर कहते हैं और उसे आहारकशरीरसे जो योग होता है उसे आहारककाययोग कहते हैं ।

शंका— औदारिकस्कन्धोंसे संबन्ध रखनेवाले जीवप्रदेशोंका हस्तप्रमाण, शंखके समान धवल वर्णवाले, और शुभ अर्थात् समचतुरस्र संस्थानसे युक्त अन्य शरीरके साथ कैसे संबन्ध हो सकता है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके प्रदेश आनादिकालीन बन्धनसे बद्ध होनेके कारण मूर्त हैं, अतएव उनका मूर्त आहारकशरीरके साथ संबन्ध होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । और इसीलिये उनका फिरसे औदारिक शरीरके साथ संघटनका होना भी विरोधको प्राप्त नहीं होता है ।

शंका— जीवका शरीरके साथ संबन्ध करनेवाला आयुकर्म है, और जीव तथा शरीरका परस्परमें वियोग होना मरण है । इसलिये जिसकी आयु नष्ट हो गई है ऐसे जीवकी फिरसे उसी शरीरमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है । अतः जीवका औदारिक शरीरके साथ पुनः संघटन नहीं बन सकता है । अर्थात् एकबार जीवप्रदेशोंका आहारक शरीरके साथ संबन्ध हो जानेके पश्चात् पुनः उन प्रदेशोंका पूर्व औदारिक शरीरके साथ संबन्ध नहीं हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आगममें जीव और शरीरके वियोगको मरण नहीं

---

१ मु. मिस्सजोगो । २ प्रा. पं. १, ९६ पाठभेदः । गो. जी. २३४.

स्योत्पत्तिप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, [1]छिन्नपूर्वायुषामुदयप्राप्तोत्तरभवसम्बन्ध्यायुःकर्मणां [2]परित्यक्तानुपात्तपूर्वोत्तरशरीराणामपि जीवानामुत्पत्त्युपलम्भात्। भवतु तथोत्पत्ति-र्मरणं पुनर्जीवशरीरवियोग एवेति चेदस्तु सर्वात्मना तयोर्वियोगो मरणं नैकदेशेन, आगलावप्युपसंहृतजीवावयवानां मरणानुपलम्भात् जीविताच्छिन्नहस्तेन व्यभि-चाराच्च। न च पुनरस्यर्षेः[3] सर्वावयवैः पूर्वशरीरपरित्यागः समस्ति येनास्य मरणं जायेत। न चैतच्छरीरं गच्छत्पर्वतादिना प्रतिहन्यते[4] शस्त्रैश्छिद्यतेऽग्निना दह्यते वा, सूक्ष्मत्वाद्वैक्रियकशरीरवत्। [5]आहारकार्मणस्कन्धतः समुत्पन्नवीर्येण योगः आहार-मिश्रकाययोगः। उक्तं च–

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कहा है, अन्यथा उनके संयोगको उत्पत्ति मानना पड़ेगा।

शंका— जीव और शरीरका संयोग उत्पत्ति रहा आवे, इसमें क्या हानि है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि जिनकी पूर्व आयु छिन्न हो गई है और जिन्होंने उत्तर भवसम्बन्धी आयुको प्राप्त कर लिया है, फिर भी जिन्होंने पूर्व शरीर तो छोड दिया है, किन्तु उत्तर शरीर अभी प्राप्त नहीं किया है ऐसे भी जीवोंकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए जीव शरीरके संयोगको उत्पत्ति नहीं कह सकते।

शंका— उत्पत्ति इसप्रकारकी भली ही रही आवे, फिर भी मरण तो जीव और शरीरके वियोगको ही मानना पड़ेगा ?

समाधान— यह कहना ठीक है, तो भी जीव और शरीरका संपूर्णरूपसे वियोग ही मरण हो सकता है। उनका एकदेशरूपसे वियोग मरण नहीं हो सकता, क्योंकि, जिनके कण्ठपर्यन्त जीवप्रदेश संकुचित हो गये हैं ऐसे जीवोंका भी मरण नहीं पाया जाता है। यदि एकदेश वियोगको भी मरण माना जावे, तो जीवित शरीरसे छिन्न होकर जिसका हाथ अलग हो गया है उसके साथ व्यभिचार दोष आ जायगा। और आहारक शरीरको धारण करनेवाले इस ऋषिके संपूर्णरूपसे पूर्व (औदारिक) शरीरका त्याग नहीं होता, जिससे इसका मरण होवे ?

विशेषार्थ— छटवें गुणस्थानमें जब साधु आहारक शरीरको उत्पन्न करता है, उस समय उसका औदारिक शरीरसे सर्वथा संबन्ध भी नहीं छूट जाता है और भुज्यमान आयुका अन्त भी नहीं होता है, इसलिये ऐसी अवस्थाको मरण नहीं कहते हैं। केवल वहां कुछ जीवप्रदेशोंका आहारक शरीरके साथ संबन्ध होता है।

यह आहारक शरीर सूक्ष्म होनेके कारण गमन करते समय वैक्रियक शरीरके समान न तो पर्वतोंसे टकराता है, न शस्त्रोंसे छिदता है और न अग्निसे जलता है। आहारक और कार्मणकी वर्गणाओंसे उत्पन्न हुए वीर्यके द्वारा जो योग होता है वह आहारकमिश्रकाययोग है।

१. मु. पूर्वायुषा। २. मु. तत्परित्यक्त। ३. मु. न पुनरस्यार्थः।

४. अव्वाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे। पज्जत्तीसंपुण्णे मरणं पि कदाचि संभवइ॥ गो. जी. २३८.

५. तत्प्राक्कालभाव्यौदारिकशरीरवर्गणामिश्रत्वेन ताभिः सह वर्तमानो यः संप्रयोगः अपरिपूर्णशक्ति-

आहरदि अणेण मुणी सुहुमे अट्ठे सयस्स संदेहे[1] ।
गत्ता केवलि-पासं तम्हा आहारको जोगो[2] ॥ १६४ ॥
आहारयमुत्तत्थं वियाण मिस्सं च अपरिपुण्णं ति ।
जो तेण संपजोगो आहारयमिस्सको जोगो[3] ॥ १६५ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेषार्थ— मिश्रयोग तीन हैं, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग और आहारकमिश्रकाययोग। इनमेंसे औदारिकमिश्र मनुष्य और तिर्यंचके जन्मके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालतक और केवली समुद्घातकी कपाटद्वयरूप अवस्थामें होता हैं। वैक्रियकमिश्र देव और नारकियोंके जन्मके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्ततक होता है। आहारकमिश्र छटे गुणस्थानवर्ती जीवके आहारकसमुद्घात निकलते समय अपर्याप्त अवस्थामें होता है। इन तीनों मिश्रयोगोंमें केवल विवक्षित शरीरसंबन्धी वर्गणाओंके निमित्तसे आत्मप्रदेश-परिस्पन्द नहीं होता है, किंतु कार्मणशरीरके संबन्धसे युक्त होकर ही औदारिक आदि शरीरसंबन्धी वर्गणाओंके निमित्तसे योग होता है, इसलिये इन्हें मिश्रयोग कहा है। परंतु इतनी विशेषता है कि गोम्मटसार जीवकाण्डकी टीकामें आहारकसमुद्घातके पहले होनेवाले औदारिकशरीरकी वर्गणाओंके मिश्रणसे आहारकमिश्रकाययोग कहा है और यहां पर कार्मणस्कन्धके मिश्रणसे आहारकमिश्रकाययोग कहा है। इन दोनों कथनों पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि गोम्मटसारकी टीकाके अभिप्रायसें आहारकमिश्रयोगतक औदारिकशरीरसंबन्धी वर्गणाए आती रहती हैं और धवलाके अभिप्रायसे आहारकमिश्रयोगके प्रारंभ होते ही औदारिकशरीरसंबन्धी वर्गणाओंका आना बन्द हो जाता है। कहा भी है–

छटवें गुणस्थानवर्ती मुनि अपनेको संदेह होने पर जिस शरीरके द्वारा केवलीके पास जाकर सूक्ष्म पदार्थोंका आहरण करता है उसे आहारक शरीर कहते हैं, इसलिये उसके द्वारा होनेवाले योगको आहारककाययोग कहते हैं॥ १६४ ॥

आहारकका अर्थ कह आये है। वह आहारकशरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक उसको आहारकमिश्र कहते हैं। और उसके द्वारा जो संप्रयोग होता है उसे आहारकमिश्रकाययोग कहते हैं॥ १६५ ॥

यस्तात्म प्रदेशपरिस्पन्दः स आहारककायमिश्रयोगः। गो. जी., जी. प्र., टी. २४०.

१ ऋद्धिप्राप्तस्यापि प्रमत्तसंयतस्य श्रुतज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशममांद्ये सति यदा धर्म्यध्यान-विरोधी श्रुतार्थसंदेहः स्यात्तदा तत्संदेहविनाशार्थं च आहारकशरीरमुत्तिष्ठतीत्यर्थः। गो. जी., जी. प्र., टी. २३५.

२ प्रा. पं. १, ९७। गो. जी. २३९. णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लाणे। परखेत्ते संवित्ते जिणजिणघरवंदणट्ठं च ॥ उत्तमअंगम्हि हवे धादुविहीणं सुहं असंहणणं। सुहसंठाणं धवलं हत्थपमाणं पसत्थुदयं ॥ गो. जी. २३६, २३७.

३ प्रा. पं. १, ९८ पाठभेदः। गो. जी. २४०.

मार्गदर्शक- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कर्मैव कार्मणं शरीरम्, अष्टकर्मस्कन्ध इति यावत् । अथवा कर्मणि भवं कार्मणं शरीरम्, नामकर्मावयवस्य कर्मणो ग्रहणम् । तेन योगः कार्मणकाययोगः । केवलेन कर्मणा जनितवीर्येण सह योगः इति यावत् । उक्तं च––

कम्मेव च कम्म-भवं कम्मइयं तेण जो दु संजोगो ।
कम्मइयकायजोगो एग-विग-तिगेसु समएसु[1] ॥ १६६ ॥

केष्वौदारिककाययोगो[2] भवतीत्येतत्प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह––

ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्ख-मणुस्साणं ॥ ५७ ॥

देवनारकाणां किमित्यौदारिकशरीरोदयो न भवेत् ? न, स्वाभाव्याद्,

कर्म ही कार्मणशरीर है, अर्थात् आठ प्रकारके कर्मस्कन्धोंको कार्मणशरीर कहते हैं । अथवा कर्ममें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे कार्मण शरीर कहते हैं । इससे नामकर्मके अवयवरूप कार्मणशरीरका ग्रहण होता हैं । उस शरीरके निमित्तसे जो योग होता है उसे कार्मणकाययोग कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिकादि शरीर-वर्गणाओंके विना केवल एक कर्मसे उत्पन्न हुए वीर्यके निमित्तसे आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप जो प्रयत्न होता है उसे कार्मणकाययोग कहते हैं । कहा भी है––

ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मस्कन्धको ही कार्मणशरीर कहते हैं । अथवा, नामकर्मसे जो उत्पन्न होता है उसे कार्मणशरीर कहते हैं । और उसके द्वारा होनेवाले योगको कार्मणकाययोग कहते हैं । यह योग एक, दो अथवा तीन समयतक होता है ॥ १६६ ॥

औदारिककाययोग किन जीवोंके होता है इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं––

तिर्यंच और मनुष्योंके औदारिककाययोग और औदारिकमिश्रकाययोग होता है॥५७॥

शंका–– देव और नारकियोंके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय क्यों नहीं होता है?

समाधान–– नहीं, क्योंकि, स्वभावसे ही उनके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय

---

१ प्रा. पं. १, ९९ । गो. जी. २४१. स कार्मणकाययोगः एकद्वित्रिसमयविशिष्टविग्रहगतिकालेषु केवलिसमुद्घातसंबंधिप्रतरद्वयलोकपूरणे समयत्रये च प्रवर्तते शेषकाले नास्तीति विभागः तु शब्देन सूच्यते । अनेन शेषयोगानामव्याघातविषय अन्तर्मुहूर्तकालो व्याघातविषये एकसमयादियथासम्भवांतर्मुहूर्तपर्यंतकालश्च एकजीवं प्रति भणितो भवति । नानाजीवापेक्षया उवसमसुहमेत्याद्यष्टसांतरमार्गणावर्जितशेषनिरंतरमार्गणानां सर्वकाल इति विशेषो ज्ञातव्यः । जी. प्र. टी.

२ मु. को ह्यौदारिक ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

देवनरकगतिकर्मोदयेन सह औदारिककर्मोदयस्य विरोधाद्वा । न च तिरश्चां मनुष्याणां चौदारिककाययोग एवेति नियमोऽस्ति, तत्र कार्मणकाययोगादीनामभावापत्तेः । किं तु औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्याणामेव ।

केषु वैक्रियिककाययोगो भवतीत्येतत्प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो देवणेरइयाणं ॥ ५८ ॥

तिरश्चां मनुष्याणां च किमिति तदुदयो न भवेत् ? न, तिर्यङ्मनुष्यगतिकर्मोदयेन सह वैक्रियिकोदयस्य विरोधात्स्वभावाद्वा । न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः अतिप्रसङ्गात् । तिर्यञ्चो मनुष्याश्च वैक्रियिकशरीराः श्रूयन्ते तत्कथं घटत इति चेन्न, औदारिकशरीरं द्विविधं विक्रियात्मकमविक्रियात्मकमिति । तत्र यद्विक्रियात्मकं तद्वै-

---

नहीं होता है । अथवा, देवगति और नरकगति नामकर्मके उदयके साथ औदारिकशरीर नामकर्मके उदयका विरोध है, इसलिये उनके औदारिकशरीरका उदय नहीं पाया जाता है । फिर भी तिर्यंच और मनुष्योंके औदारिक और औदारिकमिश्रकाययोग ही होता है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि, इस प्रकारके नियम करने पर तिर्यंच और मनुष्योंमें कार्मणकाययोग आदिके अभावकी आपत्ति आ जायगी । किन्तु औदारिक और औदारिकमिश्र तिर्यंच और मनुष्योंके ही होता हैं, ऐसा नियम जानना चाहिये ।

वैक्रियक काययोग किन जीवोंमें होता है इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

देव और नारकियोंके वैक्रियककाययोग और वैक्रियकमिश्रकाययोग होता है ॥ ५८ ॥

शंका— तिर्यंच और मनुष्योंके वैक्रियिकशरीरका उदय क्यों नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, तिर्यंचगति और मनुष्यगति कर्मोदयके साथ वैक्रियिक नामकर्मके उदयका विरोध आता है, अथवा, तिर्यंच और मनुष्यगतिमें वैक्रियिक नामकर्मका उदय नहीं होता है, यह स्वभाव ही है । और स्वभाव दूसरेके प्रश्नोंके योग्य नहीं होते हैं, अन्यथा, अतिप्रसंग दोष आ जायगा । इसलिये तिर्यंच और मनुष्योंके वैक्रियिक और वैक्रियिकमिश्रकाययोग नहीं होता है, यह सिद्ध हो जाता है ।

शंका— तिर्यंच और मनुष्य भी वैक्रियिकशरीरवाले सुने जाते हैं, इसलिये यह बात कैसे घटित होगी ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, औदारिकशरीर दो प्रकारका है, विक्रियात्मक और अविक्रियात्मक । उनमें जो विक्रियात्मक औदारिक शरीर है, वह मनुष्य और तिर्यंचोंके

क्रियिकमिति तत्रोक्तम्, न तदत्र परिगृह्यते, विविधगुणर्द्ध्यभावात् । अत्र विविधगुणर्द्ध्यात्मकं परिगृह्यते, तच्च देवनारकाणामेव ।

आहारशरीरस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो संजदाणमिड्ढिपत्ताणं ॥ ५९ ॥

आहारर्द्धिप्राप्तेः किमु संयताः ऋद्धिप्राप्ता उत वैक्रियिकर्द्धिप्राप्तेस्ते[1] ऋद्धिप्राप्ता इति । किं चातः, नाद्यः पक्ष आश्रयणयोग्यः, इतरेतराश्रयदोषासंजनात् । कथम् ? यावन्नाहारर्द्धिरुत्पद्यते न तावत्तेषामृद्धिप्राप्तत्वम्, यावन्नर्द्धिप्राप्तत्वं न तावत्तेषामाहारर्द्धिरिति । न द्वितीयविकल्पोऽपि, ऋद्धेरुपर्यृद्ध्यभावात्[2] । भावे वा आहारशरीरवतां मनःपर्ययज्ञानमपि जायेत, विशेषाभावात् । न चैवम्, आर्षेण[3] सह

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वैक्रियिकरूपसे कहा गया है । उसका यहां पर ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि, उसमें नाना गुण और ऋद्धियोंका अभाव है । यहां पर नाना गुण और ऋद्धियुक्त वैक्रियिकशरीरका ही ग्रहण किया है, और वह देव और नारकियोंके ही होता है ।

अब आहारकशरीरके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग ऋद्धिप्राप्त छटे गुणस्थानवर्ती संयतोंके ही होते हैं ॥ ५९ ॥

शंका—यहां पर क्या आहारक ऋद्धिकी प्राप्तिसे संयतोंको ऋद्धिप्राप्त समझना चाहिये, या वैक्रियिक ऋद्धिकी प्राप्तिसे उन्हें ऋद्धिप्राप्त समझना चाहिये ? इन दोनों पक्षोंमेंसे प्रथम पक्ष तो ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि, प्रथम पक्षके ग्रहण करने पर इतरेतराश्रय दोष आता है । वह कैसे आता है, आगे इसीको स्पष्ट करते हैं, जबतक आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती है तबतक उन्हें ऋद्धिप्राप्त नहीं माना जा सकता, और जबतक वे ऋद्धिप्राप्त न हों तबतक उनके आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती है । इसी प्रकार दूसरा विकल्प भी नहीं बनता है, क्योंकि, एक ऋद्धिके उपयोग करते समय दूसरी ऋद्धियोंकी उत्पत्तिका अभाव है । इतने पर भी यदि एक ऋद्धिके रहते हुए दूसरी ऋद्धिका सद्भाव माना जाता है, तो आहारक ऋद्धिवालोंके मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्ति भी माननी चाहिये, क्योंकि, दूसरी ऋद्धियोंके समान इसके होनेमें कोई विशेषता नहीं है । परंतु आहारक ऋद्धिवालेके मनःपर्यय ज्ञान माना नहीं जा सकता है, क्योंकि, ऐसा मानने पर आगमसे विरोध आता है ?

समाधान—प्रथम पक्षमें जो इतरेतराश्रय दोष दिया है, वह तो आता नहीं है,

१ मु. वैक्रियकर्द्धिप्राप्तास्ते.　२ मु. ऋद्धेरुपर्यभावात् ।

३ मणपज्जवपरिहारो पढमुवसम्मत्त दोण्णि आहारा । एदेसु एक्कपगदे णत्थि त्ति असेसयं जाणे ॥ गो. जी. ७३०.

विरोधादिति ? नाद्यपक्षोक्तदोषः समाढौकते, यतो नाहारर्द्धिरात्मानमपेक्ष्योत्पद्यते, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । अपि तु संयमातिशयापेक्षया तस्याः समुत्पत्तिरिति । ऋद्धिप्राप्तसंयतानामिति विशेषणमपि घटते । तदनुत्पत्तावपि ऋद्धिहेतुसंयमः ऋद्धिः, कारणे कार्योपचारात् । ततश्चर्द्धिहेतुसंयमप्राप्ताः यतयः ऋद्धिप्राप्तास्तेषामाहारर्द्धिरिति सिद्धम् । संयमविशेषजनिताहारशरीरोत्पादनशक्तिराहारर्द्धिरिति वा नेतरेतराश्रयदोषः । न द्वितीयविकल्पोक्तदोषोऽपि, अनभ्युपगमात् । नैष नियमोऽप्यस्त्येकस्मिन्नक्रमेण नर्द्धयो भूयस्यो भवन्तीति, गणभृत्सु सप्तानामपि ऋद्धीनामक्रमेण सत्त्वोपलम्भात् । आहारर्द्ध्या सह मनःपर्ययस्य विरोधो दृश्यत इति चेद्भवतु नाम दृष्टत्वात् । न तावता विरोध इति सर्वाभिर्विरोधो वक्तुं पार्यते, अव्यवस्थापत्तेरिति ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कार्मणशरीरस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-गदाणं ॥ ६० ॥

क्योंकि, आहारक ऋद्धि स्वतःकी अपेक्षा करके उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि, अपनेमें क्रियाके होनेमें विरोध आता है । किंतु संयमातिशयकी अपेक्षा आहारक ऋद्धिकी उत्पत्ति होती है, इसलिये 'ऋद्धिप्राप्तसंयतानाम्' यह विशेषण भी बन जाता है । यहां पर दूसरी ऋद्धियोंके उत्पन्न नहीं होने पर भी कारणमें कार्यके उपचारसे ऋद्धिके कारणभूत संयमको ही ऋद्धि कहा गया है, इसलिये ऋद्धिके कारणरूप संयमको प्राप्त संयतोंको ऋद्धिप्राप्त संयत कहते हैं, और उनके आहारक ऋद्धि होती है, यह बात सिद्ध हो जाती है । अथवा, संयमविशेषसे उत्पन्न हुई आहारकशरीरके उत्पादनरूप शक्तिको आहारक ऋद्धि कहते हैं, इसलिये भी इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है । इसी प्रकार दूसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, एक ऋद्धिके साथ दूसरी ऋद्धियां नहीं होती हैं, यह हम मानते ही नहीं हैं । एक आत्मामें युगपत् अनेक ऋद्धियां उत्पन्न नहीं होती हैं, यह कोई नियम नहीं है, क्योंकि, गणधरोंके एकसाथ सातों ही ऋद्धियोंका सद्भाव पाया जाता है ।

शंका— आहारक ऋद्धिके साथ मनःपर्ययज्ञानका तो विरोध देखा जाता है ?

समाधान— यदि आहारक ऋद्धिके साथ मनःपर्ययज्ञानका विरोध देखनेमें आता है तो रहा आवे । किंतु मनःपर्ययके साथ विरोध है, इसलिये आहारक ऋद्धिका दूसरी संपूर्ण ऋद्धियोंके साथ विरोध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है । अन्यथा अव्यवस्थाकी आपत्ति आ जायगी ।

अब कार्मणशरीरके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

विग्रहगतिको प्राप्त चारों गतियोंके जीवोंके तथा प्रतर और लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त केवलीजिन के कार्मणकाययोग होता है ॥ ६० ॥

विग्रहो देहः, तदर्था गतिः विग्रहगतिः। औदारिकादिशरीरनामोदयात्स्व-निर्वर्तनसमर्थान् विविधान् पुद्गलान् गृह्णाति विगृह्यतेऽसौ संसारिणा इति वा विग्रहो देहः। विग्रहाय गतिः विग्रहगतिः। अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहः व्याघातः पुद्गलादान-निरोध इत्यर्थः। विग्रहेण पुद्गलादाननिरोधेन गतिः विग्रहगतिः। अथवा विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमित्यनर्थान्तरम्। विग्रहेण कौटिल्येन गतिः विग्रहगतिः[1]। तां सम्यगापन्नाः प्राप्ताः विग्रहगतिसमापन्नाः, तेषां विग्रहगतिसमापन्नानाम्। शरीराणि यतः प्ररोहन्ति तद्बीजभूतं कार्मणशरीरं कार्मणकाय इति भण्यते। वाङ्मनःकायवर्गणा-निमित्तः आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगो भवति। कार्मणकायकृतो योगः कार्मणकाययोगः। स विग्रहगतौ वक्रगतौ वर्तमानजीवानां भवति। एतदुक्तम्–गतेर्गत्यन्तरं व्रजतां प्राणिनां चतस्रो गतयो भवन्ति इषुगतिः पाणिमुक्ता लाङ्गलिका गोमूत्रिका चेति। तत्राविग्रहा प्राथमिकी, शेषाः विग्रहवत्यः। ऋज्वी गतिरिषुगतिरेकसमयिकी। यथा पाणिना तिर्यक्प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा गतिः तथा संसारिणामेकविग्रहा गतिः पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी। यथा लाङ्गलं द्विवक्रं तथा द्विविग्रहा गतिर्लाङ्गलिका

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विग्रह देहको कहते हैं। उसके लिये जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं। यह जीव औदारिक आदि शरीर नामकर्मके उदयसे अपने अपने शरीरकी रचना करनेमें समर्थ नाना प्रकारके पुद्गलोंको ग्रहण करता है, अथवा संसारी जीवके द्वारा शरीरका ग्रहण किया जाता है, इसलिये देहको विग्रह कहते हैं। ऐसे विग्रह अर्थात् शरीरके लिये जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं अथवा, 'वि' शब्दका अर्थ विरुद्ध और 'ग्रह' शब्दका अर्थ घात होनेसे विग्रह शब्दका अर्थ व्याघात है जिसका अर्थ पुद्गलोंके ग्रहण करनेका निरोध होता है। इसलिये विग्रह अर्थात् पुद्गलोंके ग्रहण करनेके निरोधके साथ जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं। अथवा, विग्रह व्याघात और कौटिल्य ये पर्यायवाची नाम हैं। इसलिये विग्रहसे अर्थात् कुटिलता (मोडों) के साथ जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं। उसको भली प्रकारसे प्राप्त जीव विग्रहगतिसमापन्न कहलाते हैं। उनके अर्थात् विग्रहगतिको प्राप्त जीवोंके कार्मण-काययोग होता है। जिससे संपूर्ण शरीर उत्पन्न होते हैं, उस बीजभूत कार्मणशरीरको कार्मणकाय कहते है। वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणाके निमित्तसे जो आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द होता हैं उसे योग कहते हैं। कार्मणकायसे जो योग उत्पन्न होता है उसे कार्मणकाययोग कहते हैं। वह विग्रहगति अर्थात् वक्रगतिमें विद्यमान जीवोंके होता है। आगममें ऐसा कहा है कि एक गतिसे दूसरी गतिको गमन करनेवाले जीवोंके चार गतियां होती हैं, इषुगति, पाणिमुक्तागति, लांगलिकागति और गोमूत्रिकागति। उनमें पहली गति विग्रहरहित होती है और शेष गतियां विग्रहसहित होती हैं। सरल अर्थात् धनुषसे छूटे हुए बाणके समान मोड़ारहित गतिको इषुगति

---

१ त. रा. वा. २. २५. १–३.

त्रैसमयिकी। यथा गोमूत्रिका बहुवक्रा तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातुःसमयिकी[1]। तत्र कार्मणकाययोगः स्यादिति। स्वस्थितप्रदेशादार[2]भ्योर्ध्वाधस्तिर्यगाकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पङ्क्तिः श्रेणिरित्युच्यते। तथैव जीवानां गमनं नोच्छ्रेणिरूपेण। ततस्त्रिविग्रहा गतिर्न विरुद्धा जीवस्येति।

घातनं घातः स्थित्यनुभवयोर्विनाश इति यावत्। कथमनुक्तमनधिकृतं चावगम्यत इति चेन्न, प्रकरणवशात्तदवगतेः। उपरि घातः उद्घातः, समीचीन उद्घातः समुद्घातः[3]। कथमस्य घातस्य समीचीनत्वमिति चेन्न, भूयः कालनिष्पाद्यमान-

कहते हैं। इस गतिमें एक समय लगता है। जैसे हाथसे तिरछे फेंके गये द्रव्यकी एक मोड़ेवाली गति होती है, उसी प्रकार संसारी जीवोंके एक मोड़ेवाली गतिको पाणिमुक्ता गति कहते हैं। यह गति दो समयवाली होती है। जैसे हलमें दो मोड़े होते हैं, उसी प्रकार दो मोड़ेवाली गतिको लांगलिका गति कहते हैं। यह गति तीन समयवाली होती है। जैसे गायका चलते समय मूत्रका करना अनेक मोड़ोंवाला होता है, उसी प्रकार तीन मोड़ेवाली गतिको गोमूत्रिका गति कहते हैं। यह गति चार समयवाली होती है। इन तीनों विग्रहगतियोंमें प्रत्येक गतिके अन्तिम समयको छोड़कर कार्मणकाययोग होता है।

जो प्रदेश जहां स्थित हैं वहांसे लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रमसे विद्यमान आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते हैं। इस श्रेणीके द्वारा ही जीवोंका गमन होता है, श्रेणीको उल्लंघन करके नहीं होता है। इसलिये विग्रहगतिवाले जीवके तीन मोड़ेवाली गति विरोधको प्राप्त नहीं होती है। अर्थात् ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहां पर पहुँचनेके लिये चार मोड़े लग सकें।

घातनेरूप धर्मको घात कहते हैं, जिसका प्रकृतमें अर्थ कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका विनाश होता है।

शंका— कर्मोंकी स्थिति और अनुभागके घातका अभी तक कथन नहीं किया है, अथवा, उसका अधिकार भी नहीं है, इसलिये यहां पर कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका घात विवक्षित है, यह कैसे जाना जाय?

समाधान— नहीं, क्योंकि, प्रकरणके वशसे यह जाना जाता है कि केवलिसमुद्घातमें कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका घात विवक्षित है।

उत्तरोत्तर होनेवाले घातको उद्घात कहते हैं, और समीचीन उद्घातको समुद्घात कहते हैं।

१ त. रा. वा. २. २८. वा. ४.

२ लोकमध्यादारभ्य स. सि. २. २६। त. रा. वा. २. २६। अट्ठपएसो रुयगो तिरियं लोयस्स मज्झयारम्मि। एस पभवो दिसाणं एसेव भवे अणुदिसाणं। आचा. नि. ४२.

३ मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स। णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु॥ गो. जी. ६६८.

घातेभ्योऽस्यैकसमयिकस्य समीचीनत्वाविरोधात्। समुद्घातं गताः समुद्घातगताः। कथमेकस्मिन् गम्यगमकभावश्चेन्न, पर्यायपर्यायिणां कथंचिद् भेदविवक्षायां तदविरोधात्। तेषां समुद्घातगतानां केवलिनां कार्मणकाययोगो भवेत्। वा शब्दः समुच्चयप्रतिपादकः।

अथ स्यात्केवलिनां समुद्घातः[1] सहेतुको निर्हेतुको वा? न द्वितीयविकल्पः, सर्वेषां समुद्घातगमनपूर्वकं मुक्तिप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, लोकव्यापिनां केवलिनां विंशतिसंख्यावर्षपृथक्त्वानन्तरमियमानुपपत्तेः साध्यमानत्वेऽपि, तद्धेत्वनुपलम्भात्। न

शंका— इस घातमें समीचीनता है, यह कैसे संभव है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, बहुत कालमें संपन्न होनेवाले घातोंसे एक समयमें होनेवाले इस घातमें समीचीनताके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

समुद्घातको प्राप्त जीवोंको समुद्घातगत जीव कहते हैं।

शंका— एक ही पदार्थमें गम्य-गमकभाव कैसे बन सकता है, अर्थात् जब पर्यायीसे पर्याय अभिन्न है, तब केवली समुद्घातको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार समुद्घात और केवलीमें गम्य-गमकभाव कैसे बन सकता है?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पर्याय और पर्यायीकी कथंचित् भेदविवक्षा होने पर एक ही पदार्थमें गम्य-गमकभाव बन जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है।

उन समुद्घातगत केवलियोंके कार्मणकाययोग होता है। यहां सूत्रमें आया हुआ 'वा' शब्द समुच्चयरूप अर्थका प्रतिपादक है।

शंका— केवलियोंके समुद्घात सहेतुक होता है या निर्हेतुक? निर्हेतुक होता है, यह दूसरा विकल्प तो बन नहीं सकता, क्योंकि, ऐसा मानने पर सभी केवलियोंको समुद्घात करनेके अनन्तर ही मोक्ष-प्राप्तिका प्रसंग प्राप्त हो जायगा। यदि यह कहा जावे कि सभी केवली समुद्घातपूर्वक ही मोक्षको जाते हैं, ऐसा मान लिया जावे इसमें क्या हानि है? सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने पर लोकपूरण समुद्घात करनेवाले केवलियोंकी वर्ष-पृथक्त्वके अनन्तर बीस संख्या होती है यह नियम नहीं बन सकता है। केवलियोंके

हृतेर्गमिक्रियात्वात्संभूयात्मप्रदेशानां च बहिरुद्गमनं समुद्घातः। त. रा. वा. पृ. ५३. उद्गमनमुद्घातः, जीवप्रदेशानां विसर्पणमित्यर्थः। समीचीन उद्घातः समुद्घातः, केवलिनां समुद्घातः केवलिसमुद्घातः। अघातिकर्मस्थितिसमीकरणार्थं केवलिजीवप्रदेशानां समयाविरोधेन ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च विसर्पणं केवलिसमुद्घात इत्युक्तं भवति। जयध. अ. पृ. १२३८.

१ वेदनीयस्य बहुत्वादल्पत्वाच्चायुषो नाभोगपूर्वकमायुःसमकरणार्थं द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुदबुदाविर्भावोपशमनवद्देहस्यात्मप्रदेशानां बहिः समुद्घातनं केवलिसमुद्घातः। त. रा. वा. पृ. ५३.

तावदघातिकर्मणां स्थित्यायुष्यस्थितेरसमानता हेतुः, क्षीणकषायचरमावस्थायां सर्व-कर्मणां समानत्वाभावात् सर्वेषामपि तत्प्रसङ्गादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यतिवृषभोपदेशात्सर्वाघातिकर्मणां क्षीणकषायचरमसमये स्थितेः साम्याभावात्सर्वेऽपि कृतसमुद्घाताः सन्तो निर्वृतिमुपढौकन्ते । येषामाचार्याणां

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

लोकव्यापिकेवलिषु विंशतिसंख्यानियमस्तेषां मतेन केचित्समुद्घातयन्ति, केचिन्न समुद्घातयन्ति । के न समुद्घातयन्ति ? येषां संसृतिव्यक्तिः कर्मस्थित्या समाना ते न समुद्घातयन्ति, शेषाः समुद्घातयन्ति । अनिवृत्त्यादिपरिणामेषु समानेषु सत्सु किमिति स्थित्योर्वैषम्यम् ? न, व्यक्तिस्थितिघातहेतुष्वनिवृत्ति[1]परिणामेषु समानेषु सत्सु संसृतेस्तत्समानत्वविरोधात् । संसारविच्छित्तेः किं कारणम् ? द्वादशाङ्गावगमः तत्तीव्रभक्तिः केवलिसमुद्घातोऽनिवृत्तिपरिणामाश्च । न चैते सर्वेषु सम्भवन्ति,

समुद्घात सहेतुक होता है यह प्रथम पक्ष भी नहीं बनता है, क्योंकि, केवलिसमुद्घातका कोई हेतु नहीं पाया जाता है । यदि यह कहा जावे कि तीन अघातिया कर्मोंकी स्थितीसे आयुकर्मकी स्थितीकी असमानता ही समुद्घातका कारण है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, क्षीणकषाय गुणस्थानकी चरम अवस्थामें संपूर्ण कर्म समान नहीं होते हैं, इसलिये सभी केवलियोंके समुद्घातका प्रसंग आजायगा ।

समाधान—– यतिवृषभाचार्यके उपदेशानुसार क्षीणकषाय गुणस्थानके चरम समयमें संपूर्ण अघातिया कर्मोंकी स्थिति समान नहीं होनेसे सभी केवली समुद्घात करके ही मुक्तिको प्राप्त होते हैं परंतु जिन आचार्योंके मतानुसार लोकपूरण समुद्घात करनेवाले केवलियोंकी बीस संख्याका नियम है, उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्घात करते हैं और कितने नहीं करते हैं ।

शंका—– कौनसे केवली समुद्घात नहीं करते हैं ?

समाधान—– जिनकी संसार- व्यक्ति अर्थात् संसारमें रहनेका काल वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी स्थितीके समान है वे समुद्घात नहीं करते हैं, शेष केवली समुद्घात करते हैं ।

शंका—– अनिवृत्ति आदि परिणामोंके समान रहने पर संसारव्यक्ति स्थिति और शेष तीन कर्मोंकी स्थितिमें विषमता क्यों रहती है ?

समाधान—– नहीं, क्योंकि, व्यक्तिस्थितिके घातके कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामोंके समान रहने पर संसारको उसके अर्थात् तीन कर्मोंकी स्थितीके समान मान लेनेमें विरोध आता है ।

शंका—– संसारके विच्छेदका क्या कारण है ?

समाधान—– द्वादशांगका ज्ञान, उनमें तीव्र भक्ति, केवलिसमुद्घात और अनिवृत्तिरूप परिणाम ये सब संसारके विच्छेदके कारण हैं । परंतु ये सब कारण समस्त जीवोंमें संभव नहीं हैं, क्योंकि, दश पूर्व और नौ पूर्वके धारी जीवोंका भी क्षपकश्रेणी पर चढ़ना देखा जाता

१ मु. ष्वनिवृत्त ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

श्रेण्यारोहणदर्शनात् । न तत्र संसारसमानकर्मस्थितयः समुद्घातेन विना स्थितिकाण्डकानि अन्तर्मुहूर्तेन निपतनस्वभावानि पल्योपमस्यासंख्येयभागायतानि संख्येयावलिकायतानि च निपातयन्तः आयुःसमानि कर्माणि कुर्वन्ति । अपरे समुद्घातेन समानयन्ति[1] । न चैष संसारघातः केवलिनि प्राक् सम्भवति, स्थितिकाण्डघातवत्समानपरिणामत्वात् । परिणामातिशयाभावे पश्चादपि मा भूत्तद्घात इति चेन्न, वीतरागपरिणामेषु समानेषु सत्स्वन्येभ्योऽन्तर्मुहूर्तायुरपेक्ष्य आत्मनः समुत्पन्नेभ्यस्तद्घातोपपत्तेः । अन्यैराचार्यैरव्याख्यातमिममर्थं भणन्तः कथं न सूत्रप्रत्यनीकाः ? न, वर्षपृथक्त्वान्तरसूत्रवशवर्तिनां तद्विरोधात् ।

छम्मासाउवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं ।
स-समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए[2] ॥ १६७ ॥

है । अतः वहां पर संसार– व्यक्तिके समान कर्मस्थिति नहीं पाई जाती है । इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तमें नियमसे निपतन स्वभाववाले ऐसे पल्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण या संख्यात आवलीप्रमाण स्थिति काण्डकोंका निपतन करते हुए कितने ही जीव समुद्घातके बिना ही आयुके समान शेष कर्मोंको कर लेते हैं । तथा कितने ही जीव समुद्घातके द्वारा शेष कर्मोंको आयुकर्मके समान करते हैं । परंतु यह संसारका घात केवलीमें पहले संभव नहीं है, क्योंकि, पहले स्थितिकाण्डकके घातके समान सभी जीवोंके समान परिणाम पाये जाते हैं ।

शंका— जब कि परिणामोंमें कोई अतिशय नहीं पाया जाता है, अर्थात् सभी केवलियोंके परिणाम समान होते हैं तो पीछे भी संसारका घात मत होओ ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वीतरागरूप परिणामोंके समान रहने पर भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुकर्मकी अपेक्षासे आत्माके उत्पन्न हुए अन्य विशिष्ट परिणामोंसे संसारका घात बन जाता है ।

शंका— अन्य आचार्योंके द्वारा नहीं व्याख्यान किये गये इस अर्थका इस प्रकार व्याख्यान करनेवाले आचार्य सूत्रके विरुद्ध जा रहे हैं, ऐसा क्यों न माना जाय ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वर्षपृथक्त्वके अन्तरालका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रके वशवर्ती आचार्योंका ही पूर्वोक्त कथनसे विरोध आता है ।

शंका— छह माह प्रमाण आयुकर्मके शेष रहने पर जिस जीवको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वह समुद्घातको करके ही मुक्त होता है । शेष जीव समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं ॥ १६७ ॥

---

१ ठिदिसंतकम्मसमकरणत्थं सव्वेसि तेसि कम्माणं । अंतोमुहुत्तसेसे जंति समुग्घादमाउम्मि ॥ उल्लं संतं वत्थं विरल्लिदं जह लहुं विणिव्वाइ । संवेढियं तु ण तधा तधेव कम्मं पि णादव्वं ॥ मूलारा. २१०८, २१०९. जह उल्ला साडीया आसुं सुक्कइ विरेल्लिया संती । तह कम्मलहुयसमए वच्चंति जिणा समुग्घायं ॥ वि. भा. ३६५०.

२ प्रा. पं. १, २०० । उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा । वच्चंति समुग्घादं सेसा

एदिस्से गाहाए उवएसो किण्ण गहिओ ? ण, भज्जत्ते कारणाणुवलंभादो ।

जेसिं आउ-समाइं णामा गोदाणि वेयणीयं च ।
ते अकय-समुग्घाया वच्चंतियरे समुग्घाए[1] ॥ १६८ ॥

णेदं भज्जत्ते कारणम्, सव्व-जीवेसु समेहि अणियट्टि-परिणामेहि पत्त-घादाणं ट्ठिदीणमाउ-समाणत्त-विरोहादो, अघाइ-तियस्स खीण-कसाय-चरिम-समए जहण्ण-ट्ठिदिसंतस्स वि पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभाग-पमाणत्तुवलंभादो । नागमस्तर्कगोचर इति चेन्न, एतयोर्गाथयोरागमत्वेन निर्णयाभावाद् । भावे वास्तु गाथयोरेवोपादानम् ।

इदानीं काययोगस्याध्वानज्ञापनार्थमुत्तरसूत्रचतुष्टयमाह—

इस गाथाका उपदेश क्यों नहीं ग्रहण किया है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस प्रकार विकल्पके माननेमें कोई कारण नहीं पाया जाता है, इसलिये पूर्वोक्त गाथाका उपदेश नहीं ग्रहण किया है ।

जिन जीवोंके नाम, गोत्र और वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुकर्मके समान होती है वे समुद्घात नहीं करके ही मुक्तिको प्राप्त होते हैं। दूसरे जीव समुद्घात करके ही मुक्त होते हैं ॥ १६८ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस प्रकार पूर्वोक्त गाथामें कहे गये अभिप्रायको तो किन्हीं जीवोंके समुद्घात होनेमें और किन्हीं जीवोंके समुद्घातके नहीं होनेमें कारण कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि, संपूर्ण जीवोंमें समान अनिवृत्तिरूप परिणामोंके द्वारा कर्मस्थितियोंका घात पाया जाता हैं, अतः उनका आयुके समान होनेमें विरोध आता हैं। दूसरे, क्षीणकषाय गुणस्थानके चरम समयमें तीन अघातिया कर्मोंका जघन्य स्थितिसत्त्व पल्योपमके असंख्यातवें भाग सभी जीवोंके पाया जाता है, इसलिये भी पूर्वोक्त अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता है ।

शंका— आगम तो तर्कका विषय नहीं है, इसलिये इस प्रकार तर्कके बलसे पूर्वोक्त गाथाओंके अभिप्रायका खण्डन करना उचित नहीं है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इन दोनों गाथाओंका आगमरूपसे निर्णय नहीं हुआ है । अथवा, यदि इन दोनों गाथाओंका आगमरूपसे निर्णय हो जानेपर इनका ही ग्रहण रहा आवे ।

अब काययोगका गुणस्थानोंमें ज्ञान करानेके लिये आगेके चार सूत्र कहते हैं—

भज्जा समुग्घादे ॥ मूलारा. २१०५. षण्मासायुषि शेषे स्यादुत्पन्नं यस्य केवलम् । समुद्घातमसौ याति केवली नापरः पुनः ॥ पंचसं. ३२७. षण्मासाधिकायुष्को लभते केवलोद्गमम् । करोत्यसौ समुद्घातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा ॥ गुण. क्र. प्र. ९४.

१ मूलारा. २१०६. परं च तत्र चतुर्थचरणे पाठभेदोऽयम्–' जिणा उवणमंति सेलेसिं '। जेसिं हवंति विसमाणि णामगोदाइं वेदणीयाणि । ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥ मूलारा. २१०७.

कायजोगो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ॥ ६१ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

काययोग एवेत्यवधारणाभावान्न वाङ्मानसयो[2]रभावः। एवं शेषाणामपि वाच्यमिति। एकेन्द्रियप्रभृत्यासयोगकेवलिनः औदारिकमिश्रकाययोगिनः इति प्रतिपाद्यमाने देशविरतादिक्षीणकषायान्तानामपि तदस्तित्वं प्राप्नुयादिति चेन्न, प्रभृतिशब्दोऽयं व्यवस्थायां प्रकारे च वर्तते। अत्र प्रभृतिशब्दः प्रकारे परिगृह्यते, यथा सिंहप्रभृतयो मृगा इति। ततो न तेषां ग्रहणम्। व्यवस्थावाचिनोऽपि ग्रहणे न दोषः, 'ओरालिय-मिस्स-कायजोगो अपज्जत्ताणं'[3] ति बाधकसूत्रसम्भवाद्वा।

वैक्रियिककाययोगाधिपतिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति[4] ॥ ६२ ॥

सामान्यसे काययोग और विशेषकी अपेक्षा औदारिक काययोग और औदारिकमिश्र काययोग एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ ६१ ॥

काययोग ही होता है, इस प्रकार अवधारण नहीं होनेसे पूर्वोक्त गुणस्थानोंमें वचनयोग और मनोयोगका अभाव नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार शेष योगोंका भी कथन करना चाहिये।

शंका— एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवलीतक औदारिकमिश्रकाययोगी होते हैं ऐसा कथन करने पर देशविरत आदि क्षीणकषायपर्यन्त गुणस्थानोंमें भी औदारिकमिश्रयोगका सद्भाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह प्रभृति शब्द व्यवस्था और प्रकाररूप अर्थमें रहता है। उनमेंसे यहां पर प्रभृति शब्द प्रकाररूप अर्थमें ग्रहण किया गया है। जैसे, सिंह प्रभृत्ति मृग हैं। इसलिये औदारिकमिश्रयोगमें देशविरत आदि क्षीणकषायतकके गुणस्थानोंका ग्रहण नहीं होता है। अथवा, व्यवस्थावाची भी प्रभृति शब्दके ग्रहण करने पर कोई दोष नहीं आता है। अथवा, 'ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं' अर्थात् औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है, इस बाधक सूत्रके संभव होनेके कारण भी पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

अब वैक्रियककाययोगके स्वामीका प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वैक्रियककाययोग और वैक्रियकमिश्रकाययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयत-सम्यग्दृष्टितक होते हैं ॥ ६२ ॥

---

१ ओरालं पज्जत्ते थावरकायादि जाव जोगो त्ति। तम्मिस्समपज्जत्ते चदुगुणठाणेसु णियमेण ॥ गो. जी. ६८०.

२ मु. मनसो।　　३ जी. सं. सू. ७६.

४ वेगुव्वं पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सं तु। सुरणिरयचउट्ठाणे मिस्से ण हि मिस्सजोगो हु ॥ गो. जी. ६८२.

अत्र 'च' शब्दः कर्तव्योऽन्यथा समुच्चयावगमानुपपत्तेरिति ? न, च-शब्दमन्तरेणापि समुच्चयार्थावगतेः, यथा पृथिव्यप्तेजोवायुरित्यत्र। सम्यङ्‌मिथ्यादृष्टेरपि वैक्रियिकमिश्रकाययोगः प्राप्नुयादिति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात्; 'सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता', वेउव्विय-मिस्स-कायजोगो अपज्जत्ताणं' इत्याभ्यां वा सूत्राभ्यामवसीयते यथा न सम्यङ्‌मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियिकमिश्रकाययोगः समस्तीति।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आहारकाययोगस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह--

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो एक्कम्हि चेव पमत्त-संजद-ट्ठाणे[1] ॥ ६३ ॥

अप्रमादिनां संयतानां किमित्याहारकाययोगो न भवेदिति चेन्न, तत्र तदुत्थापने निमित्ताभावात्। तदुत्थापने किं निमित्तमिति चेदाज्ञाकनिष्ठतायाः समुत्पन्नप्रमादः

शंका-- इस सूत्रमें च शब्द और अधिक जोड़ देना चाहिये, अन्यथा समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान नहीं हो सकेगा ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, च शब्दके विना भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता है। जैसे, 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः' इस सूत्रमें च शब्दके नहीं रहने पर भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता है।

शंका-- सूत्रके कथनानुसार सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवालेके भी वैक्रियिकमिश्रकाय योगका सद्भाव प्राप्त होता है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, इसका उत्तर औदारिकमिश्रकाययोग प्रकरणमें दे आये हैं। अर्थात् यहां पर प्रभृति शब्द व्यवस्था या प्रकारवाची होनेसे पूर्वोक्त दोष नहीं आता है। अथवा, 'सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता' 'वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं' अर्थात् 'सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें जीव नियमसे पर्याप्तक ही होते हैं, अथवा, वैक्रियिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके ही होता है, इन दोनों सूत्रोंसे भी जाना जाता है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टिके वैक्रियिकमिश्रकाययोग नहीं पाया जाता है।

आहारककाययोगके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग एक प्रमत्त संयत गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ६३ ॥

शंका-- प्रमादरहित संयतोंके आहारककाययोग क्यों नहीं होता है ?

समाधान-- प्रमादरहित जीवोंके आहारककाययोग उत्पन्न करानेमें निमित्तकारणका अभाव है।

शंका-- आहारककाययोगके उत्पन्न करानेमें निमित्तकारण क्या है ?

१ जी. सं. सू. ८३.

२ आहारो पज्जत्तो इदरे खलु होदि तस्स मिस्सो दु। अंतोमुहुत्त काले छट्ठगुणे होदि आहारो ॥ गो. जी. ६८३.

असंयमबहुलतोत्पन्नप्रमादश्च । न च प्रमादनिबन्धनोऽप्रमादिनि भवेदतिप्रसङ्गात् । अथवा स्वभावोऽयं यदाहारकाययोगः प्रमादिनामेवोपजायते, नाप्रमादिनामिति ।

कार्मणकाययोगाधारजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह--

कम्मइयकायजोगो एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति[1] ॥ ६४ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

देशविरताद्क्षीणकषायान्तानामपि कार्मणकाययोगस्यास्तित्वं प्राप्नोत्यस्मात्सूत्रादिति चेन्न, 'संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता[2]' इत्येतस्मात्सूत्रात्तत्र तदभावावगतेः । न च समुद्घातादृते पर्याप्तानां कार्मणकाययोगोऽस्ति । किमिति स तत्र नास्तीति चेत् ? विग्रहगतेरभावात् । देवविद्याधरादीनां पर्याप्तानामपि वक्रा गतिरुपलभ्यते चेन्न, पूर्वशरीरं परित्यज्योत्तरशरीरमादातुं व्रजतो वक्रगतेर्विवक्षितत्वात् ।

समाधान— आज्ञाकनिष्ठता अर्थात् आप्तवचनमें सन्देहजनित शिथिलताके होनेसे उत्पन्न हुआ प्रमाद और असंयमकी बहुलतासे उत्पन्न प्रमाद आहारककायकी उत्पत्तिका निमित्त-कारण है । जो कार्य प्रमादके निमित्तसे उत्पन्न होता है वह प्रमादरहित जीवमें नहीं हो सकता है अन्यथा अतिप्रसङ्ग दोष आता है । अथवा, यह स्वभाव ही है कि आहारककाययोग प्रमत्त गुणस्थानवालोंके ही होता है, प्रमादरहित जीवोंके नहीं ।

अब कार्मणकाययोगके आधारभूत जीवोंके प्रतिपादनार्थ आगेका सूत्र कहते हैं—

कार्मणकाययोग एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली तक होता है ॥ ६४ ॥

शंका— इस सूत्रके कथनसे देशविरत गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानतक भी कार्मणकाययोगका अस्तित्व प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, 'संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता' अर्थात् संयतासंयत और संयत गुणस्थानमें जीव नियमसे पर्याप्त होते हैं, इस सूत्रके अनुसार यहां पर कार्मणकाययोगका अभाव ज्ञात हो जाता है । दूसरे समुद्घातको छोड़कर पर्याप्तक जीवोंके कार्मणकाययोग नहीं पाया जाता है ।

शंका— पर्याप्तक जीवोंमें कार्मणकाययोग क्यों नहीं होता है ?

समाधान— विग्रहगतिका अभाव होनेसे उनके कार्मणकाययोग नहीं होता है ।

शंका— देव और विद्याधर आदि पर्याप्तक जीवोंके भी वक्रगति पाई जाती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, पूर्व शरीरको छोड़कर आगेके शरीरको ग्रहण करनेके लिये जाते हुए जीवके जो एक, दो या तीन मोड़ेवाली गति होती है, वही गति यहां पर वक्रगतिरूपसे विवक्षित है ।

---

१ ओरालियमिस्सं वा चउगुणट्ठाणेसु होदि कम्मइयं । चदुगदिविग्गहकाले जोगिस्स पदलोगपूरणगे ॥ गो. जी. ६८४.

२ जी. सं. सू. ९०. मु. संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ।

योगत्रयस्य स्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति[1] ॥ ६५ ॥

चतुर्णां मनसां सामान्यं मनः, तज्जनितवीर्येण परिस्पन्दलक्षणेन योगो मनोयोगः। चतुर्णां वचसां सामान्यं वचः, तज्जनितवीर्येणात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणेन योगो वाग्योगः। सप्तानां कायानां सामान्यं कायः, तेन जनितेन वीर्येण जीवप्रदेश-परिस्पन्दलक्षणेन योगः काययोगः। एते त्रयोऽपि योगाः क्षयोपशमापेक्षया त्र्यात्मकैक-रूपमापन्नाः संज्ञिमिथ्यादृष्टेरारभ्य आ सयोगकेवलिन इति क्रमेण सम्भवापेक्षया वा स्वामित्वमुक्तम्। काययोग एकेन्द्रियेष्वप्यस्तीति चेन्न, वाङ्मनोभ्यामविनाभाविनः काययोगस्य विवक्षितत्वात्। तथा वचसोऽप्यभिधातव्यम्।

अब तीन योगोंके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग, वचनयोग और काययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली तक होते हैं ॥ ६५ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सत्यादि चार प्रकारके मनमें जो अन्वयरूपसे रहता है उसे सामान्य मन कहते हैं। उस मनसे उत्पन्न हुए परिस्पन्द-लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे मनोयोग कहते हैं। चार प्रकारके वचनोंमें जो अन्वयरूपसे रहता है उसे सामान्य वचन कहते हैं। उस वचनसे उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश-परिस्पन्द-लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे वचनयोग कहते हैं। सात प्रकारके कायोंमें जो अन्वयरूपसे रहता हैं उसे सामान्य काय कहते हैं। उस कायसे उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश-परिस्पन्द-लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे काययोग कहते हैं। ये योग तीन होते हुए भी क्षयोपशमकी अपेक्षा त्र्यात्मक एकरूपताको प्राप्त होकर संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं। अथवा क्रमसे संभव होनेकी अपेक्षा स्वामित्वका प्रतिपादन किया।

शंका— काययोग एकेन्द्रिय जीवोंके भी होता है, फिर यहां उसका संज्ञी पंचेन्द्रियसे कथन क्यों किया?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यहां पर वचनयोग और मनोयोगसे अविनाभाव रखने-वाले काययोगकी विवक्षा है। इसी प्रकार वचनयोगका भी कथन करना चाहिये। अर्थात्, यद्यपि वचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे होता है, फिर भी यहां पर मनोयोगका अविनाभावी वचनयोग विवक्षित है, इसलिये उसका भी संज्ञी पंचेन्द्रियसे कथन किया।

---

१ योगानुवादेन त्रिषु योगेषु त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति। स. सि. १. ८. मज्झिमचउमणवयणे सण्णि-प्पहुदिं दु जाव खीणो त्ति। सेसाणं जोगि त्ति य अणुभयवयणं तु वियलादो ॥ गो. ६७९.

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द्विसंयोगप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वचिजोगो कायजोगो बीइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति ॥ ६६ ॥

अत्र सामान्यवाक्काययोर्विवक्षितत्वात् द्वीन्द्रियादिर्भवत्यसंज्ञिनश्च पर्यवसानम्। विशेषे तु पुनरवलम्ब्यमाने तुरीयस्यैव वचसः सत्त्वमिति। तदाद्यन्तव्यवहारो न घटामटेत्, उपरिष्टादपि वाक्काययोगौ विद्येते ततो नासंज्ञिनः पर्यवसानमिति चेन्न, उपरि त्रयाणामपि सत्त्वात्। अस्तु चेन्न, निरुद्धद्विसंयोगस्य त्रिसंयोगेन सह विरोधात्।

एकसंयोगप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायजोगो एइंदियाणं ॥ ६७ ॥

एकेन्द्रियाणामेकः काययोग एव, द्वीन्द्रियादीनामसंज्ञिपर्यन्तानां वाक्काययोगौ द्वावेव, शेषास्त्रियोगाः।

अब द्विसंयोगी योगोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वचनयोग और काययोग द्विन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तक होते हैं ॥ ६६ ॥

यहां पर सामान्य वचन और काययोगकी विवक्षा होनेसे द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक सामान्यसे दोनों योग पाये जाते हैं। किंतु विशेषके अवलम्बन करने पर तो द्वीन्द्रियसे असंज्ञीतक वचनयोगके चौथे भेद (अनुभयवचन) का ही सत्त्व समझना चाहिये।

शंका— इन दोनों योगोंका द्वीन्द्रियसे आदि लेकर असंज्ञीपर्यन्त जो सद्भाव बताया है, यह आदि और अन्तका व्यवहार यहां पर घटित नहीं होता है, क्योंकि, इन जीवोंसे आगेके जीवोंके भी वचन और काययोग पाये जाते हैं। इसलिये असंज्ञीतक ये योग होते हैं, यह बात नहीं बनती है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आगेके जीवोंके तीनों योगोंका सत्त्व पाया जाता है।

शंका— यदि ऊपर तीन योगोंका सत्त्व है तो रहा आवे, फिर भी इन दो योगोंके कथन करनेमें क्या हानि है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विवक्षित द्विसंयोगका त्रिसंयोगके साथ कथन करनेमें विरोध आता है। इसलिये द्विसंयोगी योगका असंज्ञीतक ही कथन किया है।

अब एक संयोगी योगके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग एकेन्द्रिय जीवोंके होता है ॥ ६७ ॥

एकेन्द्रिय जीवोंके एक काययोग ही होता है। द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञीतक जीवोंके वचन और काय ये दो योग होते हैं। तथा, शेष जीवोंके तीनों ही योग होते हैं।

प्राक् सामान्येन योगस्य सत्त्वमभिधायेदानीं व्यवच्छेद्योऽमुष्मिन् कालेऽस्य सत्त्वममुष्मिश्च न सत्त्वमिति प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणजोगो वचिजोगो पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ॥६८॥

क्षयोपशमापेक्षया अपर्याप्तकालेऽपि तयोः सत्त्वं न विरोधमास्कन्देदिति चेन्न, वाङ्मनोभ्यामनिष्पन्नस्य तद्योगानुपपत्तेः। पर्याप्तानामपि विरुद्धयोगमध्यासितावस्थायां नास्त्येवेति चेन्न, सम्भवापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात्, तच्छक्तिसत्त्वापेक्षया वा। सर्वत्र समुच्चयार्थावद्योतक-च-शब्दाभावेऽपि समुच्चयार्थः पदैरेवावद्योत्यत इत्यवसेयः।

काययोगसामान्यस्य सत्त्वप्रदेशप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायजोगो पज्जत्ताण वि अत्थि, अपज्जत्ताण वि अत्थि ॥६९॥

पहले सामान्यसे योगका सत्त्व कहकर, अब व्यवच्छेद योग्य इस कालमें इस योगका सत्त्व है, और इस कालमें इस योगका सत्त्व नहीं है, इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग और वचनयोग पर्याप्तकोंके ही होते हैं, अपर्याप्तकोंके नहीं होते ॥ ६८ ॥

शंका— क्षयोपशमकी अपेक्षा अपर्याप्त कालमें भी वचनयोग और मनोयोगका पाया जाना विरोधको प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो क्षयोपशम वचनयोग और मनोयोगरूपसे उत्पन्न नहीं हुआ है, उसे योग संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है।

शंका— पर्याप्तक जीवोंके भी विरुद्ध योगको प्राप्त होनेरूप अवस्थाके होने पर विवक्षित योग नहीं पाया जाता है ?

विशेषार्थ— शंकाकारका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार अपर्याप्त अवस्थामें मनोयोग और वचनयोगका अभाव बतलाया गया है, उसी प्रकार पर्याप्त अवस्थामें भी किसी एक योगके रहने पर शेष दो योगोंका अभाव रहता है, इसलिये उस समय भी उन दो योगोंके अभावका कथन करना चाहिये।

समाधान— नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें किसी एक योगके रहने पर शेष योग संभव हैं, इसलिये इस अपेक्षासे वहां पर उनके अस्तित्वका कथन किया जाता है। अथवा, उस समय वे योग शक्तिरूपसे विद्यमान रहते हैं, इसलिये इस अपेक्षासे उनका अस्तित्व कहा जाता है।

इन सभी सूत्रोंमें समुच्चयरूप अर्थको प्रगट करनेवाला च शब्द नहीं होने पर भी सूत्रोक्त पदोंसे ही समुच्चयरूप अर्थ प्रगट हो जाता है, ऐसा समझ लेना चाहिये।

अब सामान्य काययोगकी सत्ताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग पर्याप्तकोंके भी होता है, और अपर्याप्तकोंके भी होता है ॥ ६९ ॥

'अपि' शब्दः समुच्चयार्थे द्रष्टव्यः। कः समुच्चयः ? एकस्य निर्दिष्ट-प्रदेशद्विप्रभृतेरुपनिपातः समुच्चयः। द्विरस्ति-शब्दोपादानमनर्थकमिति चेन्न, विस्तर-रुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात्। संक्षेपरुचयो नानुग्रहीताश्चेन्न, विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहस्य संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहाविनाभावित्वात्।

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पर्याप्तस्यैव एते योगाः भवन्ति, एते चोभयोरिति वचनमाकर्ण्य पर्याप्ति-विषयजातसंशयस्य शिष्यस्य सन्देहापोहनार्थमुत्तरसूत्राण्यभाणीत्

छ पज्जत्तीओ, छ अपज्जत्तीओ ॥ ७० ॥

पर्याप्तिनिःशेषलक्षणोपलक्षणार्थं तत्संख्यामेव प्रागाह। आहारशरीरेन्द्रियो-च्छ्वासनिःश्वासभाषामनसां निष्पत्तिः पर्याप्तिः[1]। ताश्च षट् भवन्ति-आहारपर्याप्तिः

सूत्रमें जो अपि शब्द आया है वह समुच्चयार्थक जानना चाहिये।

शंका— समुच्चय किसे कहते हैं ?

समाधान— किसी एक शब्दके निर्दिष्ट स्थानमें दो आदि बार प्राप्त होनेको समुच्चय कहते हैं।

शंका— सूत्रमें दो बार अस्ति शब्दका ग्रहण करना निरर्थक है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्योंके अनुग्रहके लिये सूत्रमें दो बार अस्ति पदका ग्रहण किया।

शंका— तो इस सूत्रमें संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्य अनुग्रहीत नहीं किये गये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोंका अनुग्रह संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोंके अनुग्रहका अविनाभावी है। अर्थात्, विस्तारसे कथन कर देने पर संक्षेपरुचि शिष्योंका काम चल ही जाता है, इसलिये यहां पर विस्तारसे कथन किया है।

ये योग पर्याप्तकके ही होते हैं और ये योग दोनोंके होते हैं, इस वचनको सुनकर जिन शिष्योंके पर्याप्तिके विषयमें संशय उत्पन्न हो गया है, उनके संदेहको दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहा गया है—

छह पर्याप्तियां और छह अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७० ॥

पर्याप्तियोंके संपूर्ण लक्षणको बतलानेके लिये उनकी संख्या ही पहले कही गई है। आहार, शरीर, इन्द्रिय उच्छ्वासनिःश्वास, भाषा और मन, इनकी निष्पत्तिको पर्याप्ति कहते हैं। वे पर्याप्तियां छह होती हैं— आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आनापान-

---

१ उत्पत्तिदेशमागतेन प्रथमं ये गृहीताः पुद्गलास्तेषां तथान्येषामऽपि प्रतिसमयं गृह्यमाणानां तत्सम्पर्कतस्तद्रूपतया जातानां यः शक्तिविशेष आहारादिपुद्गलखलरसरूपतापादनहेतुर्यथोदरान्तर्गतानां पुद्गलविशेषाणामाहारपुद्गलखलरसरूपतापरिणमनहेतुः सा पर्याप्तिः। जी. १ प्रति. (अभि. रा. को., पज्जत्ति)

शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः आनापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनःपर्याप्तिरिति । एतासामेवानिष्पत्तिरपर्याप्तिः । ताश्च षड् भवन्ति--आहारापर्याप्तिः शरीरापर्याप्तिः इन्द्रियापर्याप्तिः आनापानापर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनोऽपर्याप्तिरिति । एतासां द्वादशानामपि पर्याप्तीनां स्वरूपं प्रागुक्तमिति पौनरुक्तिभयादिह नोच्यते ।

इदानीं तासामाधारप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमवोचत्

सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति ॥७१॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामपि षडपर्याप्तयो[1] भवन्तीति चेन्न, तत्र गुणेऽपर्याप्त-कालाभावात् । देशविरताद्युपरितनगुणानां किमिति षट् पर्याप्तयो न सन्तीति चेन्न, पर्याप्तिर्नाम षण्णां पर्याप्तीनां समाप्तिः, न सोपरितनगुणेष्वस्ति अपर्याप्तिचरमा-वस्थायामेकसमयिक्या उपरि सत्त्वविरोधात्

षट्पर्याप्तिश्रवणात् षडेव पर्याप्तयः सन्तीति समुत्पन्नप्रत्ययस्य शिष्यस्याव-धारणात्मकप्रत्ययनिराकरणार्थमुत्तरसूत्रमवोचत्–

पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति । इन छह पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको ही अपर्याप्ति कहते हैं । अपर्याप्तियां भी छह ही होती हैं– आहार-अपर्याप्ति, शरीर-अपर्याप्ति, इन्द्रिय-अपर्याप्ति, आनापान-अपर्याप्ति, भाषा-अपर्याप्ति और मन-अपर्याप्ति । इन बारह पर्याप्तियोंका स्वरूप पहले कह आये हैं, इसलिये पुनरुक्ति दूषणके भयसे उनका स्वरूप फिरसे यहां नहीं कहते हैं ।

अब उन पर्याप्तियोंके आधारको बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

ये सभी पर्याप्तियां संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक होती हैं ॥ ७१ ॥

शंका—– सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवालोंके भी छह अपर्याप्तियां होती हैं ?

समाधान—– नहीं, क्योंकि, उस गुणस्थानमें अपर्याप्त काल नहीं पाया जाता है ।

शंका—– देशविरतादिक ऊपरके गुणस्थानवालोंके छह पर्याप्तियां क्यों नहीं होती हैं ?

समाधान—– नहीं, क्योंकि, छह पर्याप्तियोंकी समाप्तिका नाम ही पर्याप्ति है और यह समाप्ति चौथे गुणस्थान तक ही होनेसे पांचवें आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें नहीं पायी जाती, क्योंकि, अपर्याप्तिकी अन्तिम अवस्थावर्ती एक समयमें पूर्ण हो जानेवाली पर्याप्तिकी आगेके गुणस्थानोंमें सत्त्व होनेमें विरोध आता है ।

छह पर्याप्तियोंके सुननेसे जिस शिष्यको यह निश्चय हो गया कि पर्याप्तियां छह ही होती हैं, हीनाधिक नहीं, उस शिष्यके ऐसे धारणारूप निश्चयको दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहा है—

---

१ मु. षट् पर्याप्तयो ।

पंच पज्जत्तीओ पंच अपज्जत्तीओ ॥ ७२ ॥

पर्याप्तीनामपर्याप्तीनां च लक्षणमभाणीति नेदानीं भण्यते । षण्णां पर्याप्तीनामन्तः पञ्चापि सन्तीति पृथक् पर्याप्तिपञ्चकोपदेशोऽनर्थक इति चेन्न, क्वचिज्जीवविशेषे षडेव पर्याप्तयो भवन्ति, क्वचित्पञ्चैव भवन्तीति प्रतिपादनफलत्वात् । काः पञ्च पर्याप्तय इति चेन्मनोवर्जाः शेषाः पञ्च ।

ताः केषां भवन्तीति संशयानस्य शिष्यस्यारेकानिराकरणार्थमुत्तरसूत्रं वक्ष्यति–

बीइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णिपंचिदिया त्ति ॥ ७३ ॥

विकलेन्द्रियेष्वस्ति मनः, तत्कार्यस्य विज्ञानस्य तत्र सत्त्वान्मनुष्येष्वेवेति न प्रत्यवस्थातुं युक्तम्, तत्रतनस्य विज्ञानस्य तत्कार्यत्वासिद्धेः । मनुष्येषु विज्ञानस्य

पांच पर्याप्तियां और पांच अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७२ ॥

पर्याप्तियोंका और अपर्याप्तियोंका लक्षण पहले कह आये हैं, इसलिये अब फिरसे नहीं कहते हैं ।

शंका–– पांच पर्याप्तियां छह पर्याप्तियोंके भीतर आ ही जाती हैं, इसलिये अलगरूपसे पांच पर्याप्तियोंका कथन करना निष्फल है ?

समाधान–– नहीं, क्योंकि, किन्हीं जीव-विशेषोंमें छहों पर्याप्तियां पाई जाती हैं, और किन्हीं जीवोंमें पांच ही पर्याप्तियां पाई जाती हैं इस बातका प्रतिपादन करना इस सूत्रका फल है ।

शंका–– वे पांच पर्याप्तियां कौनसी हैं ?

समाधान–– मनःपर्याप्तिको छोड़कर शेष पांच पर्याप्तियां यहां पर ली गई हैं ।

वे पांच पर्याप्तियां किनके होती हैं, इस प्रकार संशयापन्न शिष्यकी शंका दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं––

वे पांच पर्याप्तियां द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियपर्यन्त होती हैं ॥ ७३ ॥

विकलेन्द्रिय जीवोंमें भी मन है, क्योंकि, मनका कार्य जो विज्ञान मनुष्योंमें है वही विकलेन्द्रिय जीवोंमें भी पाया जाता यह बात निश्चय करने योग्य नहीं है, क्योंकि, विकलेन्द्रियोंमें रहनेवाला विज्ञान मनका कार्य है, यह बात असिद्ध है ।

शंका–– मनुष्योंमें जो विशेष ज्ञान होता है वह मनका कार्य है, यह बात तो देखी जाती है ?

समाधान–– मनुष्योंका विशेष विज्ञान यदि मनका कार्य है तो रहा आवे, क्योंकि,

तत्कार्यत्वं दृश्यत इति चेदस्तु, क्वचिद् दृष्टत्वात्। मनसः कार्यत्वेन प्रतिपन्नविज्ञानेन सह तत्रतनविज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रत्यविशेषान्मनोनिबन्धनत्वमनुमीयत इति चेन्न, भिन्नजाति-स्थितविज्ञानेन सहाविशेषानुपपत्तेः। न प्रत्यक्षेणाप्येष आगमो बाध्यते, तत्र प्रत्यक्षस्य वृत्यभावात्। विकलेन्द्रियेषु मनसोऽभावः कुतोऽवसीयत इति चेदार्षात्। कथमार्षस्य प्रामाण्यमिति चेत्स्वाभाव्यात्प्रत्यक्षस्येव।

पुनरपि पर्याप्तिसंख्यासत्त्वभेदप्रदर्शनार्थमुत्तरसूत्रमाह--

चत्तारि पज्जत्तीओ चत्तारि अपज्जत्तीओ ॥ ७४ ॥

केषुचित्प्राणिषु चतस्र एव पर्याप्तयोऽपर्याप्तयो वा भवन्ति। कास्ताश्चतस्र इति चेदाहारशरीरेन्द्रियानापानपर्याप्तयः इति। शेषं सुगमम्।

चतुर्णामपि पर्याप्तीनामधिपतिजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह--

एइंदियाणं ॥ ७५ ॥

वह क्वचित् देखा जाता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका-- मनुष्योंमें मनके कार्यरूपसे स्वीकार किये गये विज्ञानके साथ विकलेन्द्रियोंमें होनेवाले विज्ञानकी ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, इसलिये यह अनुमान किया जाता है कि विकलेन्द्रियोंका विज्ञान भी मनसे होता है?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, भिन्न जातीमें स्थित विज्ञानके साथ भिन्न जातीमें स्थित विज्ञानकी समानता नहीं बन सकती है। 'विकलेन्द्रियोंके मन नहीं होता है' यह आगम प्रत्यक्षसे भी बाधित नहीं है, क्योंकि, वहां पर प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है।

शंका-- विकलेन्द्रियोंमें मनका अभाव है यह बात किस प्रमाणसे जानी जाती है?

समाधान-- आगम प्रमाणसे जाना जाता है कि विकलेन्द्रियोंके मन नहीं होता है।

शंका-- आर्षको प्रमाण कैसे माना जाय?

समाधान-- जैसे प्रत्यक्ष स्वभावतः प्रमाण है उसी प्रकार आर्ष भी स्वभावतः प्रमाण है।

फिर भी पर्याप्तियोंकी संख्याके अस्तित्वमें भेद बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

चार पर्याप्तियां और चार अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७४ ॥

किन्हीं जीवोंमें चार पर्याप्तियां अथवा किन्हींमें चार अपर्याप्तियां होती हैं।

शंका-- वे चार पर्याप्तियां कौनसी हैं?

समाधान-- आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और आनापानपर्याप्ति। शेष कथन सुगम है।

चारों पर्याप्तियोंके अधिकारी जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

उक्त चारों पर्याप्तियां एकेन्द्रिय जीवोंके होती हैं ॥ ७५ ॥

ताश्चतस्रोऽपि पर्याप्तय एकेन्द्रियाणामेव, नान्येषाम्। एकेन्द्रियाणां नोच्छ्वासमुपलभ्यते चेन्न, आर्षात्तदुपलम्भात्। प्रत्यक्षेणागमो बाध्यत इति चेद्भवत्वस्य बाधा प्रत्यक्षात्प्रत्यक्षीकृताशेषप्रमेयात्। न चेन्द्रियजं प्रत्यक्षं समस्तवस्तुविषयं येन तदविषयीकृतस्य वस्तुनोऽभावो विधीयते[1]।

एवं पर्याप्त्यपर्याप्तीरभिधाय साम्प्रतममुष्मिन्नयं योगो भवत्यमुष्मिश्च न भवतीति प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह--

ओरालियकायजोगो पज्जत्ताणं ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं[2] ॥ ७६ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

षड्भिः पञ्चभिश्चतसृभिर्वा पर्याप्तिभिर्निष्पन्नाः परिनिष्ठितास्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च पर्याप्ताः। किमेकया पर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्तः उत साकल्येन निष्पन्न

वे चारों पर्याप्तियां एकेन्द्रिय जीवोंके ही होती हैं, दूसरोंके नहीं।

शंका--- एकेन्द्रिय जीवोंके उच्छ्वास तो नहीं पाया जाता है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोंके श्वासोच्छ्वास होता है यह बात आगम प्रमाणसे जानी जाती है।

शंका--- प्रत्यक्षसे यह आगम बाधित है ?

समाधान--- जिसने संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष कर लिया है ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाणसे यदि बाधा संभव हो तो वह प्रत्यक्षबाधा कही जा सकती है। परंतु इन्द्रियप्रत्यक्ष तो संपूर्ण पदार्थोंका विषय ही नहीं करता है, जिससे कि इन्द्रियप्रत्यक्षकी विषयताको नहीं प्राप्त होनेवाले पदार्थोंका अभाव किया जाय।

इसप्रकार पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंका कथन करके अब इस जीवमें यह योग होता है और इस जीवमें यह योग नहीं होता है, इसका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं---

औदारिककाययोग पर्याप्तकोंके और औदारिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ॥ ७६ ॥

शंका--- छह पर्याप्ति, पांच पर्याप्ति अथवा चार पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुए तिर्यंच और मनुष्य पर्याप्तक कहलाते हैं। तो क्या उनमेंसे किसी एक पर्याप्तिसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है या संपूर्ण पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है ?

---

१ मु. भेदीयते।

२ ओरालं पज्जत्ते थावरकायादि जाव जोगो त्ति। तम्मिस्समपज्जत्ते चदुगुणठाणेसु णियमेण ॥ गो. जी. ६८०

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इति ? शरीरपर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्त इति भण्यते । तत्रौदारिककाययोगः निष्पन्न-शरीरावष्टम्भबलेनोत्पन्नजीवप्रदेशपरिस्पन्देन योगः औदारिककाययोगः । अपर्याप्तावस्थायामौदारिकमिश्रकाययोगः । कार्मणौदारिकस्कन्धनिबन्धनजीवप्रदेशपरिस्पन्देन योगः औदारिकमिश्रकाययोग इति यावत् । पर्याप्तावस्थायां कार्मणशरीरस्य सत्त्वात्तत्राप्युभयनिबन्धनात्मप्रदेशपरिस्पन्द इति औदारिकमिश्रकाययोगः किमु न स्यादिति चेन्न, तत्र तस्य सतोऽपि जीवप्रदेशपरिस्पन्दस्याहेतुत्वात् । न पारम्पर्यकृतं तद्धेतुत्वम्, तस्यौपचारिकत्वात् । न तदपि, अविवक्षितत्वात् । अथ स्यात्परिस्पन्दस्य बन्धहेतुत्वे संचरदभ्राणामपि कर्मबन्धः प्रसजतीति, न, कर्मजनितस्य चैतन्यपरिस्पन्दस्यास्रवहेतुत्वेन विवक्षितत्वात् । न चाभ्रपरिस्पन्दः कर्मजनितो येन तद्धेतुतामास्कन्देत् ।

वैक्रियिककाययोगस्य सत्त्वोद्देशप्रतिपादनार्थमाह--

समाधान--- सभी जीव शरीरपर्याप्तिके निष्पन्न होने पर पर्याप्तक कहे जाते हैं ।

उनमेंसे पहले औदारिककाययोगका लक्षण कहते हैं । पर्याप्तिको प्राप्त हुए शरीरके आलम्बनद्वारा उत्पन्न हुए जीवप्रदेश-परिस्पन्दसे जो योग होता है उसे औदारिककाययोग कहते हैं । और अपर्याप्त अवस्थामें औदारिकमिश्रकाययोग होता है । जिसका तात्पर्य इसप्रकार है कि कार्मण और औदारिकशरीरके स्कन्धोंके निमित्तसे जीवके प्रदेशोंमें उत्पन्न हुए परिस्पन्दसे जो योग होता है उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ।

शंका--- पर्याप्त अवस्थामें कार्मणशरीरका सद्भाव होनेके कारण वहां पर भी कार्मण और औदारिकशरीरके स्कन्धोंके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है, इसलिये वहां पर भी औदारिकमिश्रकाययोग क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें यद्यपि कार्मणशरीर विद्यमान है फिर भी वह जीव-प्रदेशोंके परिस्पन्दका कारण नहीं है । यदि पर्याप्त-अवस्थामें कार्मणशरीर परंपरासे जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दका कारण कहा जावे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कार्मण-शरीरको परंपरासे निमित्त मानना उपचार है । यदि कहें कि उपचारका भी यहां पर ग्रहण कर लिया जावे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उपचारसे परंपरारूप निमित्तके ग्रहण करनेकी यहां विवक्षा नहीं है ।

शंका--- परिस्पन्दको बन्धका कारण मानने पर संचार करते हुए मेघोंके भी कर्मबन्ध प्राप्त हो जायगा, क्योंकि, उनके भी परिस्पन्द पाया जाता है ?

समाधान--- नही, क्योंकि, कर्मजनित चैतन्यपरिस्पन्द ही आस्रवका कारण है, यह अर्थ यहां पर विवक्षित है । मेघोंका परिस्पन्द कर्मजनित तो है नहीं, जिससे वह कर्मबन्धके आस्रवका हेतु हो सके, अर्थात् नहीं हो सकता है ।

अब वैक्रियिककाययोगके सत्त्वोद्देशके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वेउव्वियकायजोगो पज्जत्ताणं वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं[1] ॥ ७७ ॥

पर्याप्तावस्थायां वैक्रियिककाययोगे सति तत्र शेषयोगाभावः स्यादिति चेन्न, तत्र वैक्रियिककाययोग एवास्तीत्यवधारणाभावात्। अवधारणाभावेऽपर्याप्तावस्थायां शेषयोगानामपि सत्त्वमापतेदिति चेत्सत्यम् कार्मणकाययोगस्य सत्त्वोपलम्भात्। न तद्वत्तत्र वाङ्मनसयोरपि सत्त्वमपर्याप्तानां तयोरभावस्योक्तत्वात्।

आहारकाययोगसत्त्वप्रदेशप्रतिपादनायाह---

आहारकायजोगो पज्जत्ताणं आहारमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं[2] ॥ ७८ ॥

आहारशरीरोत्थापकः पर्याप्तः, संयतत्वान्यथानुपपत्तेः। तथा चाहारमिश्रकाय-

---

वैक्रियिककाययोग पर्याप्तकोंके और वैक्रियिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ॥ ७७ ॥

शंका--- पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिककाययोगके होने पर वहां शेष योगोंका अभाव प्राप्त होता है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिककाययोग ही होता है ऐसा निश्चयरूप (अवधारणरूप) कथन नहीं किया है।

शंका--- जब कि उक्त कथन निश्चयरूप नहीं है तो अपर्याप्त अवस्थामें भी उसी प्रकार शेष योगोंका सद्भाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान--- यह कहना किसी अपेक्षासे ठीक है, क्योंकि, अपर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिकमिश्रके अतिरिक्त कार्मणकाययोगका भी सद्भाव पाया जाता है। किंतु कार्मणकाययोगके समान अपर्याप्त अवस्थामें वचनयोग और मनोयोगका सद्भाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, अपर्याप्त अवस्थामें इन दोनों योगोंका अभाव रहता है, यह बात पहले कही जा चुकी है।

अब आहारककाययोगके अस्तित्वका आधार बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं---

आहारककाययोग पर्याप्तकोंके और आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ॥ ७८ ॥

शंका--- आहारकशरीरको उत्पन्न करनेवाला साधु पर्याप्तक ही होता है, अन्यथा उसके संयतपना नहीं बन सकता है। ऐसी हालतमें आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकके होता

---

१ वेगुव्वं पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सं तु। गो. जी. ६८१.

२ आहारो पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सो दु। गो. जी. ६८३.

योगोऽपर्याप्तकस्येति न घटामटेदिति चेन्न, अनवगतसूत्राभिप्रायत्वात् । तद्यथा- भवत्वसौ पर्याप्तकः औदारिकशरीरगतषट्पर्याप्त्यपेक्षया, आहारशरीरगतपर्याप्ति- निष्पत्त्यभावापेक्षया त्वपर्याप्तकोऽसौ । पर्याप्तापर्याप्तत्वयोर्नैकत्राक्रमेण संभवः विरोधादिति चेन्न, पर्याप्तापर्याप्तयोगयोरक्रमेणैकत्र न सम्भवः इतीष्टत्वात् । कथं न पूर्वोऽभ्युपगमः इति विरोध इति चेन्न, भूतपूर्वगति[1]न्यायापेक्षया, विरोधासिद्धेः । विनष्टौदारिकशरीरसम्बन्धषट्पर्याप्तेरपरिनिष्ठिताहारशरीरगतपर्याप्तेरपर्याप्तकस्य कथं संयम इति चेत् ? न, संयमस्यास्रवनिरोधलक्षणस्य मन्दयोगेन सह विरोधासिद्धेः । विरोधे वा न केवलिनोऽपि समुद्घातगतस्य संयमः, तत्राप्यपर्याप्तकयोगास्तित्वं

है यह कथन नहीं बन सकता है ?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान— नहीं, क्योंकि, ऐसा कहनेवाला आगमके अभिप्रायको ही नहीं समझा है। आगमका अभिप्राय तो इस प्रकार है कि आहारकशरीरको उत्पन्न करनेवाला साधु औदारिक शरीरगत छह पर्याप्तियोंकी अपेक्षा पर्याप्तक भले ही रहा आवे, किन्तु आहारकशरीरसंबन्धी पर्याप्तियोंके पूर्ण होनेकी अपेक्षा वह अपर्याप्तक है ।

शंका— पर्याप्त और अपर्याप्तपना एकसाथ एक जीवमें संभव नहीं है, क्योंकि, एकसाथ एक जीवमें इन दोनोंके रहनेमें विरोध आता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, एकसाथ एक जीवमें पर्याप्त और अपर्याप्तसंबन्धी योग संभव नहीं हैं, यह बात हमें इष्ट ही है ।

शंका— तो फिर हमारा पूर्व कथन क्यों न मान लिया जाय, अतः आपके कथनमें विरोध आता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भूतपूर्व का ज्ञान करानेवाले न्यायकी अपेक्षा विरोध असिद्ध है । अर्थात् औदारिक शरीरसंबन्धी पर्याप्तपनेकी अपेक्षा आहारकमिश्र अवस्थामें भी पर्याप्तपनेका व्यवहार किया जा सकता है ।

शंका— जिसके औदारिक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियां नष्ट हो चुकी हैं, और आहारक शरीरसंबन्धी पर्याप्तियां अभी तक पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्तक साधुके संयम कैसे हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिसका लक्षण आस्रवका निरोध करना है ऐसे संयमका मन्दयोग (आहारकमिश्रयोग) के साथ होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । यदि इस मन्द- योगके साथ संयमके होनेमें विरोध आता ही है ऐसा माना जावे, तो समुद्घातको प्राप्त हुए केवलीके भी संयम नहीं हो सकेगा, क्योंकि, यहां पर भी अपर्याप्तकसंबन्धी योगका सद्भाव पाया जाता है इसमें कोई विशेषता नहीं है ।

---

१ मु. गल ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

प्रत्यविशेषात् । 'संजदासंजद-संजदट्ठाणे[1] णियमा पज्जत्ता' इत्यनेनार्षेण सह कथं न विरोधः स्यादिति चेन्न, द्रव्यार्थिकनयापेक्षया प्रवृत्तसूत्रस्यास्या[2]भिप्रायेणाहारशरीरानिष्पत्त्यवस्थायामपि षट्पर्याप्तीनां सत्त्वाविरोधात् । कार्मणकाययोगः पर्याप्तेष्वपर्याप्तेषूभयत्र वा भवतीति नोक्तम्, तन्निश्चयः कुतो भवेत् ? 'कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा समुग्घाद-गदाणं[3]' इत्येतस्मात्सूत्रादपर्याप्तेष्वेव कार्मणकाययोग इति निश्चीयते ।

पर्याप्तिष्वपर्याप्तिषु च योगानां सत्त्वमसत्त्वं चाभिधायेदानीं गतिषु तत्र गुणस्थानानां सत्त्वासत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह–

णेरइया मिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठीट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ७९ ॥

नारका इत्यनेन बहुवचनेन स्यादित्येतस्य एकवचनस्य न सामानाधिकरण्य-

---

शंका–– 'संयतासंयत और संयतके सभी गुणस्थानोंमें जीव नियमसे पर्याप्तक होते हैं' इस आर्षवचनके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध क्यों नहीं आजायगा ?

समाधान–– नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे प्रवृत्त हुए इस सूत्रके अभिप्रायसे आहारक शरीरकी अपर्याप्त अवस्थामें भी औदारिक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियोंके होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका–– कार्मणकाययोग पर्याप्त होने पर होता है, या अपर्याप्त रहने पर होता है, अथवा दोनों अवस्थाओंमें होता है, यह कुछ भी नहीं कहा, इसलिये इसका निश्चय कैसे किया जाय ?

समाधान–– 'विग्रहगतिको प्राप्त चारों गतिके जीवोंके और समुद्घातगत केवलियोंके कार्मणकाययोग होता है' इस सूत्रके कथनानुसार अपर्याप्तकोंके ही कार्मणकाययोग होता है, इस कथनका निश्चय हो जाता है ।

इसप्रकार पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंमें योगोंके सत्त्व और असत्त्वका कथन करके अब चार गतिसंबन्धी पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंमें गुणस्थानोंके सत्त्व और असत्त्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं ––

नारकी जीव मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं ॥ ७९ ॥

शंका–– सूत्रमें आये हुए 'नारकाः' इस बहुवचनके साथ 'स्यात्' इस एक वचनका समानाधिकरण नहीं बन सकता है ?

---

१ मु. संजदासंजदट्ठाणे । २ मु. प्रवृत्तसूत्रस्या । ३ जी. सं. सू. ६०

मिति चेन्न, एकस्य नानात्मकस्य नानात्वाविरोधात् । विरुद्धयोः कथमेकमधिकरणमिति चेन्न, दृष्टत्वात् । न हि दृष्टेऽनुपपन्नता[1] । नारकाः मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयश्च पर्याप्ताश्चापर्याप्ताश्च भवन्ति । समुच्चयावगतये चशब्दोऽत्र वक्तव्यः ? न, सामर्थ्यलभ्यत्वात् ।

तत्रतनशेषगुणद्वयप्रदेशप्रतिपादनार्थमाह—

सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥८०

नारकाः निष्पन्नषट्पर्याप्तयः सन्तः एताभ्यां[2] गुणाभ्यां परिणमन्ते नापर्याप्तावस्थायाम् । किमिति तत्र तौ नोत्पद्येते इति चेत्तयोस्तत्रोत्पत्तिनिमित्तपारिणामा-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान--- नहीं, क्योंकि, एक भी नानात्मक होता है, इसलिये एकको नानारूप होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका--- विरुद्ध दो पदार्थोंका एकाधिकरण कैसे हो सकता है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो पदार्थोंका भी एकाधिकरण देखा जाता है । और देखे गये कार्यमें यह नहीं बन सकता यह कहा नहीं जा सकता है । अतः सिद्ध हुआ कि मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि नारकी पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं ।

शंका--- समुच्चयका ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमें च शब्दका कथन करना चाहिये?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, वह सामर्थ्यसे ही प्राप्त हो जाता है ।

अब नारकसंबन्धी शेष दो गुणस्थानोंके आधारके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८० ॥

जिनकी छह पर्याप्तियां पूर्ण हो गई हैं ऐसे नारकी ही इन दो गुणस्थानोंके साथ परिणत होते हैं, अपर्याप्त अवस्थामें नहीं ।

शंका--- नारकियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें ये दो गुणस्थान क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, नारकियोंकि अपर्याप्त अवस्थामें इन दो गुणस्थानोंकी उत्पत्तिके निमित्तभूत परिणामोंका अभाव है, इसलिये उनकी अपर्याप्त अवस्थामें ये दो गुणस्थान नहीं होते हैं ।

१ स्वभावेऽध्यक्षतः सिद्धे यदि पर्यनुयुज्यते । तत्रोत्तरमिदं युक्तं न दृष्टेऽनुपपन्नता ॥ स. त. पृ. २६.
२ मु. ताभ्यां ॥

भावात् । सोऽपि किमिति तयोर्न स्यादिति चेत्स्वाभाव्यात् । नारकाणामग्निसम्बन्धाद्भस्मसाद्भावमुपगतानां पुनर्भस्मनि समुत्पद्यमानानामपर्याप्ताद्धायां गुणद्वयस्य सत्त्वाविरोधान्नियमेन पर्याप्ता इति न घटत इति चेन्न, तेषां मरणाभावात् । भावे वा न ते तत्रोत्पद्यन्ते, 'णिरयादो णेरइया उव्वट्टिदसमाणा[1]' णो णिरयगदिं जंति णो देवगदिं जंति, तिरिक्खगदिं मणुसगदिं च जंति[2] इत्यनेनार्षेण निषिद्धत्वात् । आयुषोऽवसाने म्रियमाणानामेष नियमश्चेन्न, तेषामपमृत्योरसत्त्वात् । भस्मसाद्भावमुपगतदेहानां तेषां कथं पुनरमरणमिति[3] चेन्न देहविकारस्यायुर्विच्छित्त्यनिमित्तत्वात् । अन्यथा बालावस्थातः प्राप्तयौवनस्यापि मरणप्रसङ्गात् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका— इस प्रकारके परिणाम उन दो गुणस्थानोंमें क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान— क्योंकि, ऐसा स्वभाव ही है ।

शंका— अग्निके संबन्धसे भस्मीभावको प्राप्त हुए और फिर भी उसी भस्ममें उत्पन्न होनेवाले नारकियोंके अपर्याप्त कालमें इन दो गुणस्थानोंके होनेमें कोई विरोध नहीं आता है, अर्थात् छेदन भेदन आदिसे नष्ट हुए शरीरके पश्चात् पुनः उन्हीं अवयवोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके सासादन और मिश्र गुणस्थान माननेमें कोई विरोध नहीं आता है, इसलिये इन गुणस्थानोंमें नारकी नियमसे पर्याप्तक होते हैं, यह नियम नहीं बनता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अग्नि आदि निमित्तोंसे नारकियोंका मरण नहीं होता है। यदि नारकियोंका मरण हो जावे, तो पुनः वे वहीं पर उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि, 'जिनकी आयु पूर्ण हो गई है ऐसे नारकी जीव नरकगतिसे निकलकर पुनः नरकगतिको नहीं जाते हैं, देवगतिको नहीं जाते हैं। किंतु तिर्यंचगति और मनुष्यगतिको जाते हैं' इस आर्ष वचनके अनुसार नारकियोंका पुनः नरकगतिमें उत्पन्न होना निषिद्ध है ।

शंका— आयुके अन्तमें मरनेवाले नारकियोंके लिये ही यह सूत्रोक्त नियम लागू होना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नारकी जीवोंके अपमृत्युका सद्भाव नहीं पाया जाता है। अर्थात् नारकियोंका आयुके अन्तमें ही मरण होता है, बीचमें नही ।

शंका— यदि उनकी अपमृत्यु नहीं होती है, तो जिनका शरीर भस्मीभावको प्राप्त हो गया है ऐसे नारकियोंका मरण नहीं होता यह कैसे बनेगा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, देहका विकार आयुकर्मके विनाशका निमित्त नहीं है । अन्यथा जिसने बाल-अवस्थाके पश्चात् यौवन-अवस्थाको प्राप्त कर लिया है ऐसे जीवके भी मरणका प्रसंग आ जायगा ।

१ मु. उवट्टिदसमाणा । २ मु. 'जन्ति' स्थाने सर्वत्र 'जादि' इति ।
३ मु. पुनर्मरणमिति ।

नारकाणामोघमभिधायादेशप्रतिपादनार्थमाह—

एवं पढमाए पुढवीए णेरइया ॥ ८१ ॥

प्रथमायां पृथिव्यां ये नारकास्तेषां नारकाणां सामान्योक्तरूपेण भवन्ति, ततो[2] विशेषाभावात् । यदि सामान्यप्ररूपणया प्रथमपृथिवीगतनारका एव निरूपिता भवेयुरलं तया, विशेषनिरूपणतयैव तदवगतेरिति ? न, द्रव्यार्थिकसत्त्वानुग्रहार्थं[3] तत्प्रवृत्तेः । विशेषप्ररूपणमन्तरेण न सामान्यप्ररूपणतोऽर्थावगतिर्भवतीति तथा निरूपणमनर्थकमिति चेत् ? न, बुद्धीनां वैचित्र्यात् । तथाविधबुद्धयो नेदानीमुपलभ्यन्त इति चेन्न, अस्यार्षस्य त्रिकालगोचरानन्तप्राण्यपेक्षया प्रवृत्तत्वात् ।

शेषपृथिवीनारकाणां प्रतिपादनार्थमाह—

इस प्रकार सामान्यरूपसे नारकियोंका कथन करके अब विशेषरूपसे कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इसी प्रकार प्रथम पृथिवीमें नारकी होते हैं ॥ ८१ ॥

प्रथम पृथिवीमें जो नारकी रहते हैं उनकी पर्याप्तियां और अपर्याप्तियां नरकगतिके सामान्य कथनके अनुसार होती हैं, क्योंकि, नरकगतिसंबन्धी सामान्य कथनमें और प्रथम पृथिवीसंबन्धी कथनमें कोई विशेषता नहीं है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका— यदि सामान्यप्ररूपणाके द्वारा प्रथम पृथिवीसंबन्धी नारकी ही निरूपित किये गये हैं, तो सामान्यप्ररूपणाके कथन करनेसे रहने दो, क्योंकि, विशेषप्ररूपणासे ही उसका ज्ञान हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सामान्य प्ररूपणाकी अपेक्षा रखनेवाले जीवोंके अनुग्रहके लिये सामान्यप्ररूपणाकी प्रवृत्ति होती है ।

शंका— विशेषप्ररूपणाके विना केवल सामान्यप्ररूपणासे अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है, ऐसी हालतमें सामान्यप्ररूपणाका कथन करना निष्फल है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, श्रोताओंकी बुद्धि अनेक प्रकारकी होती है, इसलिये विशेष प्ररूपणाके कथनके समान सामान्यप्ररूपणाका कथन करना भी निष्फल नहीं है ।

शंका— जो सामान्यसे पदार्थको समझ लेते हैं ऐसे बुद्धिमान् पुरुष इस कालमें तो नहीं पाये जाते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह आगम त्रिकालमें होनेवाले अनन्त प्राणियोंकी अपेक्षा प्रवृत्त हुआ है ।

शेष पृथिवियोंमें रहनेवाले नारकियोंके विशेष कथनके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

---

२ मु. कुतो ? ।

३ मु. द्रव्यार्थिकनयात् सत्त्वा ।

विदियादि[1] जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया मिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८२॥

अधस्तनीषु षट्सु पृथिवीषु मिथ्यादृष्टीनामुत्पत्तेः सत्त्वात्। पृथिवीशब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः। सुगममन्यत्।

शेषगुणस्थानानां तत्र क्व सत्त्वं क्व च न भवेदिति जातारेकस्य भव्यस्यारेका निरसनार्थमाह—

सासणसम्माइट्ठि—सम्मामिच्छाइट्ठि—असंजदसम्माइट्ठि णियमा पज्जत्ता ॥ ८३ ॥

भवतु नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिः, सम्यग्मिथ्यात्वपरिणाममधिष्ठितस्य जीवस्य मरणाभावात्[2]। भवति च तस्य मरणं गुणान्तरमुपादाय। न च तत्र स गुणोऽस्तीति। किन्त्वेतन्न युज्यते शेषगुणस्थानप्राणिनस्तत्र नोत्पद्यन्त इति ?

दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवी पृथिवी तक रहनेवाले नारकी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८२॥

प्रथम पृथिवीको छोड़कर शेष छह पृथिवियोंमें मिथ्यादृष्टि जीवोंकी ही उत्पत्ति पाई जाती है, इसलिये यहां पर प्रथम गुणस्थानमें पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों अवस्थायें बतलाई गई हैं। सूत्रमें आया हुआ पृथिवी शब्द प्रत्येक नरकके साथ जोड़ लेना चाहिये। शेष व्याख्यान सुगम है।

उन पृथिवीयोंकी किस अवस्थामें शेष गुणस्थानोंका सद्भाव है और किस अवस्थामें नहीं, इस प्रकार जिसको शंका उत्पन्न हुई है उस भव्यकी शंकाके दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवी तक रहनेवाले नारकी सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८३ ॥

शंका—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी मरकर शेष छह पृथिवियोंमें उत्पत्ति मत होओ, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणामको प्राप्त हुए जीवका मरण नहीं होता। परन्तु उसका दूसरे गुणस्थानको प्राप्त होकर मरण होता है। परंतु मरणकालमें वह गुणस्थान नहीं होता, यह सब ठीक है। किंतु शेष (दूसरे, चौथे) गुणस्थानवाले जीव मरकर वहां पर उत्पन्न नहीं होते, यह कहना नहीं बनता ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, कारण कि सासादन गुणस्थानवाला तो नरकमें उत्पन्न होता नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानवालेके नरकायुका बन्ध नहीं होता।

१ अ. ब. क. विदियाए २ मु. धिष्ठितस्य मरणा।

नैवं वक्तव्यम्, कुतः ? न तावत्[1] सासादनस्तत्रोत्पद्यते, तस्य नरकायुषो बन्धाभावात् । नापि बद्धनरकायुष्कः सासादनं प्रतिपद्य नारकेषूत्पद्यते, तस्य तस्मिन् गुणे मरणाभावात् । नासंयतसम्यग्दृष्टयोऽपि तत्रोत्पद्यन्ते, तत्रोत्पत्तिनिमित्ताभावात् । न तावत्कर्मस्कन्धबहुत्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणम्, क्षपितकर्मांशानामपि जीवानां तत्रोत्पत्तिदर्शनात् । नापि कर्मस्कन्धाणुत्वं तत्रोत्पत्तेः कारणम्, गुणितकर्मांशानामपि तत्रोत्पत्तिदर्शनात् । नापि नरकगतिकर्मणः सत्त्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणम्, तत्सत्त्वं प्रत्यविशेषतः सकलपञ्चेन्द्रियाणामपि नरकप्राप्तिप्रसङ्गात् । नित्यनिगोदानामपि विद्यमानत्रसकर्मणां त्रसेषूत्पत्तिप्रसङ्गात् । नाशुभलेश्यानां सत्त्वं तत्रोत्पत्तेः कारणम्, मरणावस्थायामसंयतसम्यग्दृष्टेः षट्पृथिवीषूत्पत्तिनिमित्ताशुभलेश्याभावात्[2] । न नरकायुषः सत्त्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणम्, सम्यग्दर्शनासिना छिन्नषट्पृथिव्यायुष्कत्वात् । न च तच्छेदोऽसिद्धः, आर्षात्तत्सिद्ध्युपलम्भात् । ततः स्थितमेतत् न सम्यग्दृष्टिः षट्सु पृथिवीषूत्पद्यते इति ।

जिसने पहले नरकायुका बन्ध कर लिया है ऐसा जीव भी सासादन गुणस्थानको प्राप्त होकर नारकियोंमे नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि, नरकायुका बन्ध करनेवाले जीवका सासादन गुणस्थानमें मरण नहीं होता । असंयतसम्यग्दृष्टि जीव भी मरकर द्वितीयादि पृथिवियोंमें उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोंके शेष छह पृथिवियोंमें उत्पन्न होनेके निमित्त नहीं पाये जाते । यदि कर्मस्कन्धोंकी अधिकता असंयतसम्यग्दृष्टि जीवके शेष छह नरकोंमें उत्पत्तिका कारण कहा जावे, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, क्षपित कर्मांशिक जीवोंकी भी नरकमें उत्पत्ति देखी जाती है । कर्मस्कन्धोंकी अल्पता भी नरकमें उत्पत्तिका कारण नहीं है, क्योंकि गुणित कर्मांशिक जीवोंकी भी वहां पर उत्पत्ति देखी जाती है । नरकगतिका सत्त्व भी सम्यग्दृष्टिके नरकमें उत्पत्तिका कारण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, नरकगतिके सत्त्वके प्रति कोई विशेषता न होनेसे सभी पंचेन्द्रिय जीवोंको नरकगतिकी प्राप्तिका प्रसंग आजायगा । तथा नित्यनिगोदिया जीवोंके भी त्रसकर्मकी सत्ता विद्यमान रहती है, इसलिये उनकी भी त्रसोंमें उत्पत्ति होने लगेगी । अशुभ लेश्याके सत्त्वको नरकमें उत्पत्तिका कारण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, मरणके समय असंयतसम्यग्दृष्टि जीवके नीचेकी छह पृथिवियोंमें उत्पत्तिकी कारणरूप अशुभ लेश्याएं नहीं पाई जाती हैं । नरकायुका सत्त्व भी सम्यग्दृष्टिके नीचेकी छह पृथिवियोंमें उत्पत्तिका कारण नहीं है, क्योंकि, सम्यग्दर्शनरूपी खड्गसे नीचेकी छह पृथिवीसंबन्धी आयु काट दी जाती है । और नीचेकी छह पृथिवीसंबन्धी आयुका कटना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, आगमसे इसकी पुष्टि होती है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि नीचेकी छह पृथिवियोंमें सम्यग्दृष्टी जीव मर कर उत्पन्न नहीं होता है ।

---

१ मु. इति ? न तावत् । २ मु. षट्सु पृथिवीषू ।

तिर्यग्गतौ गुणस्थानानां सत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

तिरिक्खा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता ॥ ८४ ॥

भवतु नाम मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां तिर्यक्षु पर्याप्तापर्याप्तद्वयोः सत्त्वं, तयोस्तत्रोत्पत्त्यविरोधात् । सम्यग्दृष्टयस्तु पुनर्नोत्पद्यन्ते, तिर्यगपर्याप्तपर्यायेण सम्यग्दर्शनस्य विरोधादिति ? न विरोधः, अस्यार्षस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् । क्षायिकसम्यग्दृष्टिः सेविततीर्थंकरः क्षपितसप्तप्रकृतिः कथं तिर्यक्षु दुःखभूयस्सूत्पद्यते इति चेन्न, तिरश्चां नारकेभ्यो दुःखाधिक्याभावात् । नारकेष्वपि सम्यग्दृष्टयो नोत्पत्स्यन्त इति चेन्न, तेषां तत्रोत्पत्तिप्रतिपादकार्षोपलम्भात्[1] । किमिति ते तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनोपादानात् प्राङ्म मिथ्यादृष्टयवस्थायां बद्धतिर्यङ्नरकायुष्कत्वात् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अब तिर्यंचगतिमें गुणस्थानोंके सद्भावके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८४ ॥

मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंकी तिर्यंचोंसंबन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें भले ही सत्ता रही आवे, क्योंकि, इन दो गुणस्थानोंकी तिर्यंचसंबन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । परंतु सम्यग्दृष्टि जीव तो तिर्यंचोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि, तिर्यंचोंकी अपर्याप्त पर्यायके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है ?

समाधान— विरोध नहीं है, फिर भी यदि विरोध माना जावे तो यह सूत्रवचन अप्रमाण हो जायगा ।

शंका— जिसने तीर्थंकरकी सेवा की है और जिसने मोहनीयकी सात प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है ऐसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव दुःखबहुल तिर्यंचोंमें कैसे उत्पन्न होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, तिर्यंचोंके नारकियोंसे अधिक दुःख नहीं पाये जाते हैं ।

शंका— तो फिर नारकियोंमें भी सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होंगे ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोंकी नारकियोंमें उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाला आगम-प्रमाण पाया जाता है ।

शंका— सम्यग्दृष्टि जीव नारकियोंमें क्यों उत्पन्न होते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिन्होंने सम्यग्दर्शनको ग्रहण करनेके पहले मिथ्यादृष्टि अवस्थामें तिर्यंचायु और नरकायुका बन्ध कर लिया है उनकी सम्यग्दर्शनके साथ वहां पर उत्पत्ति होनेमें कोई आपत्ति नहीं आती है ।

१ (णेरइया) सम्मत्तेण अधिगदा सम्मत्तेण चेव णींति । जी. चू. सू. २६७.

सम्यग्दर्शनेन तत् किमिति न छिद्यते इति चेत्? किमिति तन्न छिद्यते? अपि तु न तस्य निर्मूलच्छेदः। तदपि कुतः? स्वाभाव्यात्।

तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टयादिस्वरूपनिरूपणार्थमाह--

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥८५॥

मनुष्याः मिथ्यादृष्टयवस्थायां बद्धतिर्यगायुषः पश्चात्सम्यग्दर्शनेन सहात्ताप्रत्याख्यानाः क्षपितसप्तप्रकृतयस्तिर्यक्षु किन्नोत्पद्यते इति चेत्? किंचातोऽप्रत्याख्यानगुणस्य तिर्यगपर्याप्तेषु सत्त्वापत्तिः? न, देवगतिव्यतिरिक्तगतित्रयसम्बद्धायुषोपलक्षितानामणुव्रतोपादानबुद्धयनुत्पत्तेः। उक्तं च[1]--

चत्तारि वि छेत्ताइं आउग बंधेण[2] होइ सम्मत्तं।
अणुवद-महव्वदाइं ण लहइ देवायुगं मोत्तुं[3] ॥ १६९ ॥

शंका-- सम्यग्दर्शनकी सामर्थ्यसे उस आयुका छेद क्यों नहीं हो जाता है?

समाधान-- उसका छेद क्यों नहीं होता है? अवश्य होता है, किंतु उसका समूल नाश नहीं होता है।

शंका-- समूल नाश क्यों नहीं होता?

समाधान-- बांधे हुए आयुकर्मका समूल नाश नहीं होता है इस प्रकारका स्वभाव ही है।

अब तिर्यंचोंमें सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

तिर्यंच सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८५ ॥

शंका-- जिन्होंने मिथ्यादृष्टि अवस्थामें तिर्यंचायुका बन्ध करनेके पश्चात् सम्यदर्शनके साथ देशसंयमको ग्रहण कर लिया है और मोहकी सात प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है ऐसे मनुष्य तिर्यंचोंमें क्यों नहीं उत्पन्न होते? यदि होते हैं तो इससे तिर्यंच-अपर्याप्तोंमें देशसंयमके प्राप्त होनेकी आपत्ति आती है?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, देवगतिको छोड़कर शेष तीन गतिसंबन्धी आयुबन्धसे युक्त जीवोंके अणुव्रतको ग्रहण करनेकी बुद्धि ही उत्पन्न नहीं होती है। कहा भी है--

चारों गतिसबन्धी आयुकर्मके बन्ध हो जाने पर भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता

---

१ अ. प्रतौ 'उक्तं च' प्रभृति 'चत्तारि वि छेत्ताइं' इत्यादिगाथा नास्ति।
२ मु. बंधे वि। ३ प्रा. पं. १, २०१। गो. जी. ६५३. गो. क. ३३४।

न तिर्यक्षूत्पन्ना अपि क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽणुव्रतान्याददते[1], भोगभूमावुत्पन्नानां तदुपादानानुपपत्तेः। ये निर्दानास्ते कथं तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य तत्रोत्पत्तिकारणस्य सत्त्वात्। न च पात्रदानेऽननुमोदिनः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति, तत्र तदनुपपत्तेः।

तिरश्चामोघमभिधायादेशस्वरूपनिरूपणार्थं वक्ष्यति--

एवं पंचिंदिय-तिरिक्खा पंचिंदिय-तिरिक्ख-पज्जत्ता ॥ ८६ ॥

एतेषामोघप्ररूपणमेव भवेद्विवक्षितं प्रति विशेषाभावात्।

स्त्रीवेदविशिष्टतिरश्चां विशेषप्रतिपादनार्थमाह--

है, परंतु देवायुके बन्धको छोड़कर शेष तीन आयुकर्मके बन्ध होने पर यह जीव अणुव्रत और महाव्रतको ग्रहण नहीं करता है ॥ १६९ ॥

तिर्यंचोंमें उत्पन्न हुए भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रतोंको नहीं ग्रहण करते हैं, क्योंकि, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव यदि तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं तो भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते हैं और भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुव्रतोंका ग्रहण करना बन नहीं सकता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका-- जिन्होंने दान नहीं दिया है ऐसे जीव भोगभूमिमें कैसे उत्पन्न हो सकते हैं?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, भोगभूमिमें उत्पत्तिका कारण सम्यग्दर्शन है और वह जिनके पाया जाता है उनके वहां उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। तथा पात्रदानकी अनुमोदनासे रहित जीव सम्यग्दृष्टि हो नहीं सकते हैं, क्योंकि, उनमें पात्रदानकी अनुमोदनाका अभाव नहीं बन सकता है।

विशेषार्थ-- क्षायिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति मनुष्य पर्यायमें ही होती है। अतः जिस मनुष्यने पहले तिर्यंचायुका बन्ध कर लिया है और अनन्तर उसके क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है ऐसे जीवके उत्तम भोगभूमिमें उत्पत्तिका मुख्य कारण क्षायिक सम्यग्दर्शन ही जानना चाहिये, पात्रदान नहीं। फिर भी वह पात्रदानकी अनुमोदनासे रहित नहीं होता है।

इस प्रकार तिर्यंचोंकी सामान्य प्ररूपणाका कथन करके अब उनके विशेष स्वरूपके निर्णय करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

तिर्यंचसंबन्धी सामान्यप्ररूपणाके समान पंचेन्द्रियतिर्यंच और पर्याप्तपंचेन्द्रियतिर्यंच भी होते हैं ॥ ८६ ॥

पंचेन्द्रियतिर्यंच और पर्याप्त-पंचेन्द्रिय-तिर्यंचोंकी प्ररूपणा तिर्यंचसंबन्धी सामान्य-प्ररूपणाके समान ही होती है, क्योंकि, विवक्षित विषयके प्रति इन दोनोंके कथनमें कोई विशेषता नहीं है।

अब स्त्रीवेदयुक्त तिर्यंचोंमें विशेषका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

१ मु. ण्याददते।

पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ८७ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सासादनो नारकेष्विव तिर्यक्ष्वपि मोत्पादीति[1] चेन्न, द्वयोः साधर्म्याभावतो दृष्टान्तानुपपत्तेः ।

तत्र शेषगुणानां स्वरूपमभिधातुमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ८८ ॥

कुतः ? तत्रैतासामुत्पत्तेरभावात् । बद्धायुष्कः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्नारकेषु नपुंसकवेद इवात्र स्त्रीवेदे किन्नोत्पद्यत इति चेन्न, तत्र तस्यैवैकस्य सत्त्वात् । यत्र

पंचेन्द्रिय-तिर्यंच योनिनी जीव मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८७ ॥

शंका— सासादन गुणस्थानवाला जीव मरकर जिस प्रकार नारकियोंमें उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार तिर्यंचोंमें भी मत उत्पन्न होओ ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नारकी और तिर्यंचोंमें साधर्म्य नहीं पाया जाता है, इसलिये नारकियोंका दृष्टान्त तिर्यंचोंको लागू नहीं हो सकता है ।

इनमें शेष गुणस्थानोंके स्वरूपका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिनी जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८८ ॥

शंका— ऐसा क्यों होता है ?

समाधान— क्योंकि, पूर्वोक्त गुणस्थानोंमें मरकर ये उत्पन्न नहीं होते हैं ।

शंका— जिस प्रकार बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव नारकसंबन्धी नपुंसकवेदमें उत्पन्न होता है उसी प्रकार यहां पर स्त्रीवेदमें क्यों नहीं उत्पन्न होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नरकमें एक नपुंसकवेदका ही सद्भाव है । जिस किसी गतिमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव उस गतिसंबन्धी विशिष्ट वेदादिकमें ही उत्पन्न होता है यह अभिप्राय यहां पर ग्रहण करना चाहिये । इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिनी जीवोंमें नहीं उत्पन्न होता है ।

---

१ मु. नोत्पादीति ।

क्वचन समुत्पद्यमानः सम्यग्दृष्टिस्तत्र विशिष्टवेदादिषु समुत्पद्यत इति गृह्यताम् । तिर्यगपर्याप्तेषु किन्न निरूपितमिति नाशङ्कनीयम्, तत्र प्रतिपक्षाभावतो गतार्थत्वात् ।

मनुष्यगतिप्रतिपादनार्थमाह--

मणुस्सा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८९ ॥

सुगममेतत् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तत्र शेषगुणस्थानसत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह---

सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९० ॥

भवतु सर्वेषामेतेषां पर्याप्तत्वम्, नाहारकशरीरमुत्थापयतां प्रमत्तानामनिष्पन्नाहारगतषट्पर्याप्तीनाम् । न पर्याप्तकर्मोदयापेक्षया पर्याप्तोपदेशः, तदुदयसत्त्वा-

---

शंका--- तिर्यंच-अपर्याप्तोंमें गुणस्थानोंका निरूपण क्यों नहीं किया ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, अपर्याप्त तिर्यंचोंमें एक मिथ्यात्व गुणस्थानको छोड़कर प्रतिपक्षरूप और कोई दूसरा गुणस्थान नहीं पाया जाता है, अतः विना कथन किये ही इसका ज्ञान हो जाता है ।

विशेषार्थ--- यहां अपर्याप्त तिर्यंचोंसे लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंचोंका ग्रहण करना चाहिये । और लब्ध्यपर्याप्तकोंके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है । अतः उनके विषयमें यहां पर अधिक नहीं कहा गया है ।

अब मनुष्यगतिके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सरल है ।

मनुष्योंमें शेष गुणस्थानोंके सद्भावरूप अवस्थाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं---

मनुष्य सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९० ॥

शंका--- सूत्रमें बताये गये इन सभी गुणस्थानवालोंको पर्याप्तपना प्राप्त होओ, परंतु जिनकी आहारक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियां पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे आहारक शरीरको उत्पन्न करनेवाले प्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवोंके पर्याप्तपना नहीं बन सकता है । यदि पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा आहारक शरीरको उत्पन्न करनेवाले प्रमत्तसंयतोंको पर्याप्तक कहा जावे, सो

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेषतोऽसंयतसम्यग्दृष्टीनामपि अपर्याप्तत्वस्याभावापत्तेः । न च संयमोत्पत्त्यवस्था-पेक्षया तदवस्थायां प्रमत्तस्य पर्याप्तत्वं घटते, असंयतसम्यग्दृष्टावपि तत्प्रसङ्गादिति ? नैष दोषः, अवलम्बितद्रव्यार्थिकनयत्वात् । सोऽन्यत्र किमिति नावलम्ब्यत इति चेन्न, तत्र निमित्ताभावात् । किमर्थमत्रावलम्ब्यत इति चेत्पर्याप्तैरस्य साम्यदर्शनं तदवलम्बनकारणम् । केन साम्यमिति चेद् ? दुःखाभावेन । उपपातगर्भसम्मूर्च्छज-शरीराण्याददानानामिव[1] आहारशरीरमाददानानां न दुःखमस्तीति पर्याप्तत्वं प्रमत्तस्योपचर्यत इति यावत् । पूर्वाभ्यस्तवस्तुविस्मरणमन्तरेण शरीरोपादानाद्वा दुःखमन्तरेण पूर्वशरीरपरित्यागाद्वा प्रमत्तस्तदवस्थायां पर्याप्त इत्युपचर्यते ।

भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, पर्याप्तकर्मका उदय प्रमत्तसंयतोंके समान असंयत सम्यग्दृष्टियोंके भी निर्वृत्यपर्याप्त अवस्थामें पाया जाता है, इसलिये वहां पर भी अपर्याप्तपनेका अभाव मानना पड़ेगा। संयमकी उत्पत्तिरूप अवस्थाकी अपेक्षा प्रमत्तसंयतके आहारककी अपर्याप्त अवस्थामें पर्याप्तपना बन जाता है यदि ऐसा कहा जावे सो भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि, इस प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टियोंके भी अपर्याप्त अवस्थामें (सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा) पर्याप्तपनेका प्रसंग आ जायगा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनकी अपेक्षा प्रमत्तसंयतोंको आहारक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियोंके पूर्ण नहीं होने पर भी पर्याप्त कहा है।

शंका— उस द्रव्यार्थिक नयका दूसरी जगह (विग्रहगतिसंबन्धी गुणस्थानोंमें) आलम्बन क्यों नहीं लिया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वहां पर द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनके निमित्त नहीं पाये जाते हैं।

शंका— तो फिर यहां पर द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन किस लिये लिया जा रहा है।

समाधान— आहारकसंबन्धी अपर्याप्त अवस्थाको प्राप्त हुए प्रमत्तसंयतकी पर्याप्तकोंके साथ समानताका दिखाना ही यहां पर द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनका कारण है।

शंका— इसकी दूसरे पर्याप्तकोंके साथ किस बातसे समानता है ?

समाधान— दुःखाभावकी अपेक्षा इसकी दूसरे पर्याप्तकोंके साथ समानता है ? जिस प्रकार उपपातजन्म, गर्भजन्म या संमूर्छनजन्मसे उत्पन्न हुए शरीरोंको धारण करनेवालोंके दुःख होता है, उस प्रकार आहारशरीरको धारण करनेवालोंके दुःख नहीं होता है, इसलिये उस अवस्थामें प्रमत्तसंयत पर्याप्त है इस प्रकारका उपचार किया जाता है। अथवा, पहले अभ्यास की हुई वस्तुके विस्मरणके विना ही आहारक शरीरका ग्रहण होता है, या दुःखके विना ही पूर्व शरीर (औदारिक) का परित्याग होता है, अतएव प्रमत्तसंयत अपर्याप्त

१ मु. ण्यादधानानामिव

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

निश्चयनयाश्रयणे तु पुनरपर्याप्तः'। एवं समुद्घातगतकेवलिनामपि वक्तव्यम् ।

मनुष्यविशेषस्य निरूपणार्थमाह--

एवं मणुस्स-पज्जत्ता ॥९१॥

पर्याप्तेषु नापर्याप्तत्वमस्ति, विरोधात् । ततः 'एवं पज्जत्ता' इति कथमेतद्घटत इति ? नैष दोषः, शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया तदुपपत्तेः । कथं तस्य पर्याप्तत्वं ? न, द्रव्यार्थिकनयाश्रयणात् । ओदनः पच्यत इत्यत्र यथा तन्दुलानामेवौदनव्यपदेशस्तथाऽपर्याप्तावस्थायामप्यत्र पर्याप्तव्यवहारो न विरुद्धयत इति । पर्याप्तनामकर्मोदयापेक्षया वा पर्याप्तता । एवं तिर्यक्ष्वपि वक्तव्यम् । सुगममन्यत् ।

अवस्थामें भी पर्याप्त है, इस प्रकारका उपचार किया जाता है। निश्चयनयका आश्रय करने पर तो वह अपर्याप्त ही है। इसी प्रकार समुद्घातगत केवलीके संबन्धमें भी कथन करना चाहिये।

अब मनुष्यके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते है---

मनुष्य-सामान्यके कथनके समान मनुष्य पर्याप्त होते हैं ॥ ९१ ॥

शंका-- पर्याप्तकोंमें अपर्याप्तपना तो बन नहीं सकता है, क्योंकि, इन दोनों अवस्थाओंका परस्पर विरोध है। इसलिये 'इसीप्रकार पर्याप्त होते हैं' यह कथन कैसे घटित होगा ?

समाधान-- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शरीरकी अनिष्पत्तिकी अपेक्षा पर्याप्तकोंमें भी अपर्याप्तपना बन जाता है।

शंका-- जिसके शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है उसके पर्याप्तपना कैसे बनेगा ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा उसके भी पर्याप्तपना बन जाता है। भात पक रहा है, यहां पर जिस प्रकार चावलोंको भात कहा जाता है, उसी प्रकार जिसके सभी पर्याप्तियां पूर्ण होनेवाली हैं ऐसे जीवके अपर्याप्त अवस्थामें भी पर्याप्तपनेका व्यवहार विरोधको प्राप्त नहीं होता है। अथवा पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा उनके पर्याप्तपना समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार तिर्यंचोंमें भी कथन करना चाहिये। शेष कथन सुगम है।

विशेषार्थ-- मनुष्य पर्याप्तकोंमें पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त इन दोनों प्रकारके

१ औदारिकाद्याः शुद्धास्तत्पर्याप्तकस्य, मिश्रास्त्वपर्याप्तकस्येति । तत्रोत्पत्तावौदारिककायः कार्मणेन, औदारिकशरीरिणश्च वैक्रियकाहारककरणकाले वैक्रियकाहारकाभ्यां मिश्रो भवतीति । एवमौदारिकमिश्रः । तथा वैक्रियकमिश्रो देवाद्युत्पत्तौ कार्मणेन, कृतवैक्रियस्य औदारिकप्रवेशाद्धायामौदारिकेण । आहारकमिश्रस्तु साधिताहारककायप्रयोजनः पुनरौदारिकप्रवेशे औदारिकेणेति । स्था. ३ का. १३. (अभि. रा. को. जोग.)

मानुषीषु निरूपणार्थमाह—

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ९२ ॥

अत्रापि पूर्ववदपर्याप्तानां पर्याप्तव्यवहारः प्रवर्तयितव्यः। अथवा स्यादित्ययं निपातः कथञ्चिदित्येतस्मिन्नर्थे[1] वर्तते, तेन स्यात्पर्याप्ताः पर्याप्तनामकर्मोदयाच्छरीर-निष्पत्त्यपेक्षया वा। स्यादपर्याप्ताः शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया इति वक्तव्यम्। सुगममन्यत्।

तत्रैव शेषगुणविषयारेकापोहनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्ठाणे[2] णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ९३ ॥

हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेत्? नोत्पद्यन्ते।

पुरुषवेदी मनुष्योंका अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, आगममें जो मनुष्योंके चार भेद किये हैं उनमेंसे जिनके पर्याप्त नामकर्मका उदय विद्यमान है ऐसे पुरुषवेदी मनुष्योंको मनुष्य पर्याप्त कहा है। इस पर शंकाकारका कहना है कि जिनके पर्याप्तियां पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्तकोंका पर्याप्तकोंमें अन्तर्भाव कैसे किया जा सकता है। इसी शंकाको ध्यानमें रखकर यहां समाधान किया गया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अब मनुष्यिनियोंमें गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

मनुष्यिनियाँ मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होती हैं और अपर्याप्त भी होती हैं ॥ ९२ ॥

यहां पर भी पर्याप्त मनुष्योंके समान निर्वृत्त्यपर्याप्तकोंमें पर्याप्तपनेका व्यवहार कर लेना चाहिये। अथवा, 'स्यात्' यह निपात कथंचित् अर्थमें रहता है। इसके अनुसार कथंचित् पर्याप्त होते हैं, इसका यह तात्पर्य है कि पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा अथवा शरीर-पर्याप्तिकी पूर्णताकी अपेक्षा पर्याप्त होते हैं। और कथंचित् अपर्याप्त होते हैं, इसका यह तात्पर्य है कि शरीर पर्याप्तिकी अपूर्णताकी अपेक्षा अपर्याप्त होते हैं। शेष कथन सुगम है।

अब मनुष्यिनियोंमें ही शेष गुणस्थानविषयक शंकाके दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं-

मनुष्यिनियाँ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक होती हैं ॥ ९३ ॥

शंका— हुण्डावसर्पिणी कालके दोषसे स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं?

समाधान— उनमें सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होते हैं।

शंका— यह किस प्रमाणसे जाना जाता है?

---

१ मु. दित्यस्मिन्नर्थे। २ मु. संजदासंजद-ट्ठाणे

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कुतोऽवसीयते? अस्मादेवार्षात्। अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः[1] सिद्ध्येदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्य-विरुद्ध इति चेत्? न तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्य-थानुपपत्तेः। कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानानां सम्भव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्। गतिस्तु प्रधाना, न साराद्विनश्यति। वेदविशेषणायां गतौ न तानि सम्भवन्तीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। मनुष्यापर्याप्तेष्वपर्याप्तिप्रतिपक्षा-भावतः सुगमत्वान्न तत्र वक्तव्यमस्ति।

समाधान— इसी आर्षवचनसे जाना जाता है।

शंका— तो इसी आर्षवचनसे द्रव्य-स्त्रियोंका मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वस्त्रसहित होनेसे उनके संयतासंयत गुणस्थान होता है, अतएव उनके संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका— वस्त्रसहित होते हुए भी उन द्रव्य-स्त्रियोंके भावसंयमके होनेमें कोई विरोध नहीं है?

समाधान— उनके भाव संयम नहीं है, क्योंकि, अन्यथा, अर्थात् भाव संयमके मानने पर, उनके भाव असंयमका अविनाभावी वस्त्रादिकका ग्रहण करना नहीं बन सकता है।

शंका— तो फिर स्त्रियोंमें चौदह गुणस्थान होते हैं यह कथन कैसे बन सकेगा?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भावस्त्री अर्थात् स्त्रीवेद युक्त मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

शंका— बादरकषाय गुणस्थानके ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता है, इसलिये भाववेदमें चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव नहीं हो सकता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यहां पर अर्थात् गतिमार्गणामें वेदकी प्रधानता नहीं है, किंतु गति प्रधान है और वह पहले नष्ट नहीं होती है।

शंका— यद्यपि मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थान संभव हैं। फिर भी उसे वेद विशेषणसे युक्त कर देने पर उसमें चौदह गुणस्थान संभव नहीं हो सकते हैं?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विशेषणके नष्ट हो जाने पर भी उपचारसे उस विशेषण युक्त संज्ञाको धारण करनेवाली मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

मनुष्य अपर्याप्तकोंमें अपर्याप्तिका कोई प्रतिपक्षी नहीं होनेसे और उनका कथन सुगम होनेसे इस विषयमें कुछ अधिक कहने योग्य नहीं है। इसलिये इस संबन्धमें स्वतंत्ररूपसे नहीं कहा गया है।

१ मु. निर्वृत्तिः।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

देवगतौ निरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह--

देवा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सियां पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥९४॥

अथ स्याद्विग्रहगतौ कार्मणशरीराणां न पर्याप्तिस्तदा पर्याप्तीनां षण्णां निष्पत्तेरभावात् । न अपर्याप्तास्ते, आरम्भात्प्रभृति आ उपरमादन्तरालावस्थायामपर्याप्तिव्यपदेशात् । न चानारम्भकस्य स व्यपदेशः, अतिप्रसङ्गात् । ततस्तृतीयमप्यवस्थान्तरं वक्तव्यमिति ? नैष दोषः, तेषामपर्याप्तेष्वन्तर्भावात् । नातिप्रसङ्गोऽपि, कार्मणशरीरस्थितप्राणिनामिवापर्याप्तकैः सह सामर्थ्याभावोपपादैकान्तानुवृद्धियोगैर्गत्यायुःप्रथमद्वित्रिसमयवर्तनेन च शेषप्राणिनां प्रत्यासत्तेरभावात् । ततोऽशेषसंसारिणामवस्थाद्वयमेव नापरमिति स्थितम् ।

अब देवगतिमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९४ ॥

शंका-- विग्रहगतिमें कार्मण शरीर होता है, यह बात ठीक है। किंतु वहां पर कार्मणशरीरवालोंके पर्याप्ति नहीं पाई जाती है, क्योंकि, विग्रहगतिके कालमें छह पर्याप्तियोंकी निष्पत्ति नहीं होती है ? उसी प्रकार विग्रहगतिमें वे अपर्याप्त भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, पर्याप्तियोंके आरम्भसे लेकर समाप्ति पर्यन्त मध्यकी अवस्थामें अपर्याप्ति यह संज्ञा दी गई है। परंतु जिन्होंने पर्याप्तियोंका आरम्भ ही नहीं किया है ऐसे विग्रहगतिसंबन्धी एक, दो और तीन समयवर्ती जीवोंको अपर्याप्त संज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर अतिप्रसंग दोष आता है। इसलिये यहाँ पर पर्याप्त और अपर्याप्तसे भिन्न तीसरी भी अवस्था कहना चाहिये ?

समाधान-- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, ऐसे जीवोंका अपर्याप्तोंमें ही अन्तर्भाव किया गया है। और ऐसा मान लेने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, कार्मणशरीरमें स्थित जीवोंकी अपर्याप्तकोंके साथ सामर्थ्याभाव, उपपादयोगस्थान, एकान्तानुवृद्धियोगस्थान और गति तथा आयुसंबन्धी प्रथम, द्वितीय और तृतीय समयमें होनेवाली अवस्थाके द्वारा जितनी समीपता पाई जाती है, उतनी शेष प्राणियोंकी नहीं पाई जाती है। इसलिये कार्मणकाययोगमें स्थित जीवोंका अपर्याप्तकोंमें ही अन्तर्भाव किया जाता है। अतः संपूर्ण प्राणियोंकी दो अवस्थाएँ ही होती हैं। इनसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था नहीं होती है।

शेषगुणस्य सत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह--

सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९५ ॥

कथं ? तेन गुणेन सह तेषां मरणाभावात् । अपर्याप्तकालेऽपि सम्यग्मिथ्यात्व-
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
गुणस्योत्पत्तेरभावाच्च । नियमेऽभ्युपगम्यमाने एकान्तवादः प्रसजतीति चेन्न, अनेकान्त-गर्भैकान्तस्य सत्त्वाविरोधात् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह—

भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-देवा[1] देवीओ सोधम्मीसाण-कप्पवासिय-देवीओ च मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्ति-याओ ॥ ९६ ॥

इसी गतिमें शेष गुणस्थानोंकी सत्ताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं–

देव सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९५ ॥

शंका— यह कैसे ?

समाधान— क्योंकि, तीसरे गुणस्थानके साथ उनका मरण नहीं होता है । तथा अपर्याप्त कालमें भी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका— 'तृतीय गुणस्थानमें पर्याप्त ही होते हैं' इस प्रकार नियमके स्वीकार कर लेने पर तो एकान्तवाद प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अनेकान्तगर्भित एकान्तवादके सद्भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अब देवगतिमें विशेष प्ररूपणाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देव और उनकी देवियां तथा सौधर्म और ऐशान कल्पवासिनी देवियां ये सब मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९६ ॥

---

१ भवनेषु वसन्तीत्येवं शीला भवनवासिनः । विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते व्यन्तराः । द्योतन-स्वभावत्वाज्ज्योतिष्काः । स. सि. त. रा. वा ४. १०–१२. भवनेषु अधोलोकदेवावासविशेषेषु वस्तुं शीलमस्येति । अभि. रा. को. (भवणवासि) विविधं भवननगरावासरूपमन्तरं येषां ते व्यन्तराः । × × अथवा विगतमन्तरं मनुष्येभ्यो येषां ते व्यन्तराः । तथाहि, मनुष्यानपि चक्रवर्तिवासुदेवप्रभृतीन् भृत्यवदुपचरन्ति केचिद्व्यन्तरा इति मनुष्येभ्यो विगतान्तराः । यदि वा विविधमन्तरं शैलान्तरं कन्दरान्तरं वनान्तरं वा आश्रयरूपं येषां ते व्यन्तराः । प्राकृतत्वाच्च सूत्रे 'वाणमन्तरा' इति पाठः । यदि वानमन्तरा इति पदसंस्कारः, तत्रेयं व्युत्पत्तिः, वनानामन्तराणि वनान्तराणि, तेषु भवा वानमन्तराः । पृषोदरादित्वादुभयपदपदान्तरालवर्तिमकारागमः ।

उभयगुणोपलक्षितजीवानां तत्रोत्पत्तेरुभयत्रापि तदस्तित्वं सिद्धम्। अन्यत्सुगमम्।

तत्रानुत्पद्यमानगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ९७ ॥

भवतु सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिः, तस्य तद्गुणेन मरणाभावात्, किन्त्वेतन्न घटते यदसंयतसम्यग्दृष्टिर्मरणवांस्तत्र नोत्पद्यत इति? न, जघन्येषु तस्योत्पत्तेरभावात्। नारकेषु तिर्यक्षु च कनिष्ठेषूत्पद्यमानस्तत्र[1] तेभ्योऽधिकेषु किमिति नोत्पद्यत[2] इति चेन्न, मिथ्यादृष्टीनां प्राग्बद्धायुष्काणां पश्चादात्तसम्यग्दर्शनानां नारकाद्युत्पत्तिप्रतिबन्धनं प्रति सम्यग्दर्शनस्यासामर्थ्यात्। तद्वद्देवेष्वपि किन्न स्यादिति चेत्सत्यमिष्टत्वात्। तथा च

इन दोनों गुणस्थानोंसे युक्त जीवोंकी पूर्वोक्त देव और देवियोंमें उत्पत्ति होती है, अतएव उन दोनों गुणस्थानोंमें पर्याप्त और अपर्याप्तरूपसे उनका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। शेष कथन सुगम है।

उक्त देव और देवियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें नहीं होनेवाले गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पूर्वोक्त देव नियमसे पर्याप्त होते हैं और पूर्वोक्त देवियां नियमसे पर्याप्त होती हैं ॥ ९७ ॥

शंका— सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी उक्त देव और देवियोंमें उत्पत्ति मत होओ, यह ठीक है, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके साथ जीवका मरण नहीं होता है। परंतु यह बात नहीं बनती है कि मरनेवाला असंयतसम्यग्दृष्टि जीव उक्त देव और देवियोंमें उत्पन्न नहीं होता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टिकी जघन्य देवोंमें उत्पत्ति नहीं होती है।

शंका— जघन्य अवस्थाको प्राप्त नारकियोंमें और तिर्यंचोंमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव उनसे उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त भवनवासी देव और देवियोंमें तथा कल्पवासिनी देवियोंमें क्यों नहीं उत्पन्न होता है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो आयुकर्मका बन्ध करते समय मिथ्यादृष्टि थे और जिन्होंने तदनन्तर सम्यग्दर्शनको ग्रहण किया है ऐसे जीवोंकी नरकादि गतिमें उत्पत्तिके रोकनेकी सामर्थ्य सम्यग्दर्शनमें नहीं है।

प्रज्ञा. १ (पद. अभि. रा. को. वाणमंतर) द्योतन्ते इति ज्योतींषि विमानानि, तन्निवासिनो ज्योतिष्काः। उत्त. २ अ.। ज्योतींषि विमानविशेषाः, तेषु भवा ज्योतिष्काः। स्था. ५ ठा. १ उ. (अभि. रा. को.– ज्योतिष्क, ज्यौतिष्क.)

१ मु. पूत्पद्यमानास्तत्र। २ मु. नोत्पद्यन्त।

भवनवास्यादिष्वप्यसंयतसम्यग्दृष्टेरुत्पत्तिरास्कन्देदिति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य बद्धायुषां प्राणिनां तत्तद्गत्यायुःसामान्येनाविरोधिनस्तत्तद्गतिविशेषोत्पत्तिविरोधित्वोपलम्भात् तथा च भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकपृथ्वीषट्कस्त्रीनपुंसकविकलैकेन्द्रिय[1]लब्ध्यपर्याप्तककर्मभूमिजतिर्यक्षु चोत्पत्त्या विरोधोऽसंयतसम्यग्दृष्टेः सिद्धयेदिति तत्र ते नोत्पद्यन्ते । सुगममन्यत् ।

शेषदेवेषु गुणावस्थाप्रतिपादनार्थं वक्ष्यति—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सोधम्मीसाण-प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम-गेवज्जं[2] ति विमाणवासिय[3]-देवेसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ९८ ॥

शंका— सम्यग्दृष्टि जीवोंकी जिस प्रकार नरकगति आदिमें उत्पत्ति होती है उसी प्रकार देवोंमें क्यों नहीं होती है ?

समाधान— यह कहना ठीक है, क्योंकि, यह बात इष्ट ही है ।

शंका— यदि ऐसा है तो भवनवासी आदिमें भी असंयतसम्यग्दृष्टि जीवकी उत्पत्ति प्राप्त हो जायगी ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिन्होंने पहले आयुकर्मका बन्ध कर लिया है ऐसे जीवोंके सम्यग्दर्शनका उस उस गतिसंबन्धी आयुसामान्यके साथ विरोध न होते हुए भी उस उस गतिसंबन्धी विशेषमें उत्पत्तिके साथ विरोध पाया जाता है । ऐसी अवस्थामें भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक देवोंमें, नीचेके छह नरकोंमें, सब प्रकारकी स्त्रियोंमें, प्रथम नरकके बिना सब प्रकारके नपुंसकोंमें, विकलत्रयोंमें, एकेन्द्रियोंमें लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंमें और कर्मभूमिज तिर्यंचोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिका उत्पत्तिके साथ विरोध सिद्ध हो जाता है । इसलिये इतने स्थानोंमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते हैं । शेष कथन सुगम है ।

शेष देवोंमें गुणस्थानोंकी अवस्थितिके बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सौधर्म और ऐशान स्वर्गसे लेकर उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम भाग पर्यन्त विमानवासी देवोंसंबन्धी मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें जीव पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९८ ॥

---

१ मु. विकलेन्द्रिय-

२ लोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वात् ग्रीवाः । ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयकाणि विमानानि । तत्साहचर्यात् इन्द्रा अपि ग्रैवेयकाः । त. रा. वा. ४. १९. ग्रीवेव ग्रीवा लोकपुरुषस्य त्रयोदशरज्जुपरिवर्त्तिप्रदेशः तन्निविष्टतयातिभ्राजिष्णुतया च तदाभरणभूतादौ ग्रैवेयका देवावासाः, तन्निवासिनो देवा अपि ग्रैवेयकाः । उत्त. ३६. अ. (अभि. रा. को. गेविज्जक.)

३ विशेषेणात्मस्थान् सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि, विमानेषु भवा वैमानिकाः । स. सि., त. रा. वा. ४. १६. विविधं मन्यन्ते उपभुज्यन्ते पुण्यवद्भिर्जीवैरिति विमानानि । तेषु भवाः वैमानिकाः । से किं तं वेमाणिया ? वेमाणिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा कप्पोपगा य कप्पाईया य । × × कल्प आचारः, स चेह

भवत्वत्रोभयावस्थासु गुणत्रयस्यास्तित्वम्[1], तस्य तेषूत्पत्तिं प्रति विरोधासिद्धेः। सनत्कुमारादुपरि न स्त्रियः समुत्पद्यन्ते, सौधर्मादाविव तदुत्पत्त्यप्रतिपादनात्। तत्र स्त्रीणामभावे कथं तेषां देवानामनुपशान्तान्तस्तापानां[2] सुखमिति चेन्न, तत्स्त्रीणां सौधर्मकल्पोपपत्तेः। तर्हि तत्रापि स्त्रीणामस्तित्वमभिधातव्यमिति चेन्न, अन्यत्रोत्पन्नानामन्यलेश्यायुर्बलानां स्त्रीणां तत्र सत्त्वविरोधात्। तत्र भवनवासिनो व्यन्तरज्योतिष्काः सौधर्मैशानदेवाश्च मनुष्या इव कायप्रवीचाराः। प्रवीचारो मैथुनसेवनम्, काये प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः। सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः स्पर्शप्रवीचाराः, तत्रतनदेवा देवाङ्गनास्पर्शनमात्रादेव परां प्रीतिमुपलभन्ते इति यावत्। तथा देव्योऽपि। यतो ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टेषु देवाः दिव्याङ्गनाशृङ्गाराकारविलासचतुरमनोज्ञवेष-

शंका—— सौधर्म स्वर्गसे लेकर उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम भाग तकके देवोंकी पर्याप्त और अपर्याप्त इन दोनों अवस्थाओंमें प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानोंका अस्तित्व पाया जाता है, यह कहना तो ठीक है, क्योंकि, उन तीन गुणस्थानोंकी उक्त देवोंमें उत्पत्तिके प्रति विरोध नहीं है। किंतु सनत्कुमार स्वर्गसे लेकर ऊपर स्त्रियां उत्पन्न नहीं होती हैं, क्योंकि, सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें देवांगनाओंके उत्पन्न होनेका जिस प्रकार कथन किया गया है, उस प्रकार आगेके स्वर्गोंमें उनकी उत्पत्तिका कथन नहीं किया गया है। इसलिये वहां स्त्रियोंके अभाव रहने पर, जिनका स्त्रीसंबन्धी अन्तस्ताप शान्त नहीं हुआ है ऐसे देवोंके उनके विना सुख कैसे हो सकता है?

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समाधान—— नहीं, क्योंकि, सनत्कुमार आदि कल्प-संबन्धी स्त्रियोंकी सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें उत्पत्ति होती है।

शंका—— तो सनत्कुमार आदि कल्पोंमें भी स्त्रियोंके अस्तित्वका कथन करना चाहिये?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, जो दूसरी जगह उत्पन्न हुई हैं, तथा जिनकी लेश्या, आयु और बल सनत्कुमारादि कल्पोंमें उत्पन्न हुए देवोंसे भिन्न प्रकारके हैं ऐसी स्त्रियोंका सनत्कुमारादि कल्पोंमें उत्पत्तिकी अपेक्षा अस्तित्व होनेमें विरोध आता है।

उन देवोंमें भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा सौधर्म और ऐशान कल्पवासी देव मनुष्योंके समान शरीरसे प्रवीचार करते हैं। मैथुनसेवनको प्रवीचार कहते हैं। जिनका कायमें प्रवीचार होता है उन्हें कायसे प्रवीचार करनेवाले कहते हैं। सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें देव स्पर्शसे प्रवीचार करते हैं। अर्थात् इन दोनों कल्पोंमें रहनेवाले देव देवांगनाओंके स्पर्शमात्रसे ही अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार वहांकी देवियां भी देवोंके स्पर्शमात्रसे अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होती हैं। जिस कारण ब्रम्ह, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट कल्पोंमें रहनेवाले देव अपनी देवांगनाओंके श्रृंगार, आकार, विलास, प्रशस्त तथा मनोज्ञ वेष तथा रूपके अवलोकन

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशादिव्यवहाररूपस्तमुपगाः प्राप्ताः कल्पोपगाः सौधर्मैशानादिदेवलोकनिवासिनः। यथोक्तरूपं कल्पमतीताः अतिक्रान्ताः कल्पातीताः। प्रज्ञा. १ पद. (अभि. रा. को. वेमाणिय.)

१ मु. गुणत्रयास्तित्वं। २ मु. शान्ततत्सन्तापानां।

रूपालोकमात्रादेव परं सुखमवाप्नुवन्ति ततस्ते रूपप्रवीचाराः। यतः शुक्रमहाशुक्रशतार-सहस्रारेषु देवाः देवाङ्गनानां मधुरसङ्गीतमृदुहसितललितकथितभूषणरवश्रवणमात्रादेव परां प्रीतिमास्कन्दन्ति ततस्ते शब्दप्रवीचाराः। आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु देवाः यतः स्वाङ्गनामनःसङ्कल्पमात्रादेव परं सुखमवाप्नुवन्ति[1] ततस्ते मनःप्रवीचाराः। प्रवीचारो वेदनाप्रतीकारः। वेदनाभावाच्छेषाः देवाः अप्रवीचाराः अनवरतसुखा इति यावत्।

सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९९ ॥

सुगमत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति।

शेषदेवेषु गुणस्थानस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयंत-जयंतावराजितसव्वट्ठ-सिद्धिविमाणवासिय-देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ १०० ॥

मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं इसलिये वे रूपसे प्रवीचार करनेवाले हैं। जिस कारण शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पोंमें रहनेवाले देव देवांगनाओंके मधुर संगीत, कोमल हास्य, ललित शब्दोच्चार और भूषणोंके शब्द सुनने मात्रसे ही परम प्रीतिको प्राप्त होते हैं, इसलिये वे शब्दसे प्रवीचार करनेवाले हैं। जिस कारण आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पोंमें रहनेवाले देव अपनी स्त्रीका मनमें संकल्प करने मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं, इसलिये वे मनसे प्रवीचार करनेवाले हैं। वेदनाके प्रतीकारको प्रवीचार कहते हैं। उस वेदनाका अभाव होनेसे नव ग्रैवेयकसे लेकर ऊपरके सभी देव प्रवीचाररहित हैं अर्थात् निरन्तर सुखी हैं।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि देवोंके स्वरूपके निर्णय करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें देव नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां पर अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

अब शेष देवोंमें गुणस्थानोंके स्वरूपके निर्णय करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नव अनुदिशोंमें और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तर विमानोंमें रहनेवाले देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ १०० ॥

---

१ स. सि. ४. ८., त. रा. वा. ४. ८., वा. ५.

२ नैषामन्यान्युत्तराणि विमानानि सन्तीत्यनुत्तरविमानानि। अनु. अनुत्तरेषु सर्वोत्तमेषु विमानविशेषेषु

पञ्चानामेव नामान्यभ्यधादन्तदीपकार्थम् । ततः शेषस्वर्गनामान्यपि वक्तव्यानि । तानि च यथावसरं वक्ष्यामः । एवं योगनिरूपणावसर एव चतसृषु गतिषु पर्याप्तापर्याप्तकालविशिष्टासु सकलगुणस्थानानामभिहितमस्तित्वम् । शेषमार्गणासु अयमर्थः किमिति नाभिधीयत इति चेत् ? नोच्यते, अनेनैव गतार्थत्वाद् गतिचतुष्टयव्यतिरिक्तमार्गणाभावात् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वेदविशिष्टगुणस्थाननिरूपणार्थमाह—

वेदाणुवादेण अत्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णवुंसयवेदा अवगदवेदा चेदि ॥ १०१ ॥

दोषैरात्मानं परं च स्तृणाति छादयतीति स्त्री, स्त्री चासौ वेदश्च स्त्रीवेदः, स एषामस्तीति स्त्रीवेदाः । अथवा[1] पुरुषं स्तृणाति आकाङ्क्षतीति स्त्री पुरुषकाङ्क्षेत्यर्थः। स्त्रियं विन्दतीति स्त्रीवेदः । अथवा वेदनं वेदः, स्त्रियो वेदः स्त्रीवेदः । उक्तं च—

ये पांच विमान सबसे अन्तमें हैं इस बातके प्रगट करनेके लिये पांचों ही विमानोंके नाम कहे गये हैं, इसलिये शेष स्वर्गोंके नाम भी कहने चाहिये । परंतु उनका वर्णन यथावसर करेंगे ।

इस प्रकार योगमार्गणाके निरूपण करनेके अवसर पर ही पर्याप्त और अपर्याप्त काल युक्त चारों गतियोंमें संपूर्ण गुणस्थानोंकी सत्ता बतला दी गई ।

शंका— शेष मार्गणाओंमें यह विषय क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान— नहीं कहते हैं, क्योंकि, इसी कथनसे शेष मार्गणाओंमें इस विषयका ज्ञान हो जाता है, क्योंकि, चारों गतियोंको छोड़कर अन्य मार्गणाऐं नहीं पाई जातीं ।

अब वेदसहित गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वेदमार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और अपगतवेदवाले जीव होते हैं ॥ १०१ ॥

जो दोषोंसे स्वयं अपनेको और दूसरेको आच्छादित करती है उसे स्त्री कहते हैं और स्त्रीरूप जो वेद है उसे स्त्रीवेद कहते हैं । वह स्त्रीवेद जिनके पाया जाता है वे स्त्रीवेदी कहलाते हैं । अथवा, जो पुरुषकी आकांक्षा करती है उसे स्त्री कहते हैं, जिसका अर्थ पुरुषकी चाह करनेवाली होता है । जो अपनेको स्त्रीरूप अनुभव करता है उसे स्त्रीवेद कहते हैं । अथवा वेदन करनेको वेद कहते हैं और स्त्रीके वेदको स्त्रीवेद कहते हैं । कहा भी है—

उपपातो जन्मानुत्तरोपपातः । भ. ६. श. ६. उ. अत्थि णं भंते अणुत्तरोववाइया देवा । हंता । अत्थि । से केणट्ठेणं भंते ? एवं वुच्चइ अणुत्तरोववाइया देवा ? गोयमा । अणुत्तरोववाइयाणं अणुत्तरा सद्दा, अणुत्तरा रूवा, जाव अणुत्तरा फासा, से तेणट्ठेणं गोयमा । एवं वुच्चइ जाव अणुत्तरोववाइया देवा । भ. १४ श. ७. उ. (. अभि. रा. को. अणुत्तरोववाइय.)

१ मु. वेदश्च स्त्रीवेदः । अथवा ।

छादेदि सयं दोसेण यदो छादइ परं हि दोसेण ।
छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी[1] ॥ १७० ॥

पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च शेते स्वपितीति पुरुषः । सुषुप्तपुरुषवदनवगत[2]-गुणोऽप्राप्तभोगश्च यदुदयाज्जीवो भवति स पुरुषः अङ्गनाभिलाष इति यावत् । पुरुगुणं कर्म शेते करोतीति वा पुरुषः । कथं स्त्र्यभिलाषः पुरुगुणं कर्म कुर्यादिति चेन्न, तथाभूतसामर्थ्यानुविद्धजीवसहचरितत्वादुपचारेण जीवस्य तस्य तत्कर्तृत्वा[3]-भिधानात् । तस्य वेदः पुंवेदः । उक्तं च---

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पुरु-गुण-भोगे सेदे करेदि लोगम्हि पुरुगुणं कम्मं ।
पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिदो पुरिसो[4] ॥ १७१ ॥

न स्त्री न पुमान्नपुंसकः,[5] उभयाभिलाष इति यावत् । उक्तं च---

जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम आदि दोषोंसे अपनेको आच्छादित करती है और मधुर संभाषण, कटाक्ष–विक्षेप आदिके द्वारा जो दूसरे पुरुषोंको भी अब्रह्म आदि दोषोंसे आच्छादित करती है, उसको आच्छादनशील होनेके कारण स्त्री कहा है ॥ १७० ॥

जो उत्कृष्ट गुणोंमें और उत्कृष्ट भोगोंमें शयन करता है उसे पुरुष कहते हैं । अथवा, जिस कर्मके उदयसे जीव, सोते हुए पुरुषके समान गुणोंको नहीं जानता है और भोगोंको प्राप्त नहीं करता है उसे पुरुष कहते हैं । अर्थात् स्त्रीसंबन्धी अभिलाषा जिसके पाई जाती है उसे पुरुष कहते हैं । अथवा, जो श्रेष्ठ गुणयुक्त कर्म करता है वह पुरुष है ।

शंका--- जिसके स्त्रीविषयक अभिलाषा पाई जाती है वह उत्तम गुणयुक्त कर्म कैसे कर सकता है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, उत्तम गुणयुक्त कर्मको करनेरूप सामर्थ्यसे युक्त जीवके सहचरितपनेकी अपेक्षा वह उत्तम कर्मको करता है ऐसा कथन उपचारसे किया है । कहा भी है---

जो उत्तम गुण और उत्तम भोगोंमें सोता है अथवा जो लोकमें उत्तम गुणयुक्त कार्य करता है और जो उत्तम है उसे पुरुष कहा है ॥ १७१ ॥

जो न स्त्री है और न पुरुष है उसे नपुंसक कहते हैं, अर्थात् जिसके स्त्री और पुरुष-विषयक दोनों प्रकारकी अभिलाषा पाई जाती है उसे नपुंसक कहते हैं । कहा भी है---

---

१ प्रा. पं. १, १०५ । गो. जी. २७४. नयतः मृदुभाषितस्निग्धविलोकनानुकुलवर्तनादिकुशल-व्यापारैः । जी. प्र. टी. २ मु. वदनुगत । ३ मु. जीवस्य तत्कर्तृत्वा

४ प्रा. पं. १, १०६ । गो. जी. २७३. पुरुगुणे सम्यग्ज्ञानाधिकगुणसमूहे । पुरुभोगे नरेन्द्रनागेन्द्र-देवेन्द्राद्यधिकभोगचये । पुरुगुणं कर्म धर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थसाधनरूपदिव्यानुष्ठानं । पुरूत्तमे परमेष्ठिपदे । जी. प्र. टी. ५ मु. पुंसकमुभ ।

णेवित्थी णेव पुमं णवुंसओ उभय-लिंग-वदिरित्तो ।
इट्टावाग[1]-समाणग-वेयण-गरुओ कलुस चित्तो[2] ॥ १७२ ॥

अपगतास्त्रयोऽपि वेदसंतापा येषां तेऽपगतवेदाः । प्रक्षीणान्तर्दाहा इति यावत् । सर्वत्र सन्तीत्यभिसम्बन्धः कर्तव्यः । उक्तं च---

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कारिस-तणिट्टवागग्गि[3]-सरिस-परिणाम-वेयणुम्मुक्का ।
अवगय-वेदा जीवा सग-संभवणंत-वर-सोक्खा[4] ॥ १७३ ॥

वेदवतां जीवानां गुणस्थानादिषु सत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह---

इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥ १०२ ॥

उभयोर्वेदयोरक्रमेणैकस्मिन् प्राणिनि सत्त्वं प्राप्नोतीति चेन्न, विरुद्धयोरक्रमेणं-

---

जो न स्त्री है और न पुरुष है, किंतु स्त्री और पुरुषसंबन्धी दोनों प्रकारके लिंगोंसे रहित है, अवाकी अग्निके समान तीव्र वेदनासे युक्त है और सर्वदा स्त्री और पुरुष विषयक मैथुनकी अभिलाषासे उत्पन्न हुई वेदनासे जिसका चित्त कलुषित है उसे नपुंसक कहते हैं ॥१७२॥

जिनके तीनों प्रकारके वेदोंसे उत्पन्न होनेवाला संताप (अन्तरंग दाह) दूर हो गया है वे अपगतवेद जीव हैं ।

सूत्रमें कहे गये सभी पदोंके साथ 'सन्ति' पदका संबन्ध कर लेना चाहिये । कहा भी है—

जो कारीष (कण्डेकी) अग्नि, तृणाग्नि और इष्टापाकाग्नि (अवेकी अग्नि) के समान परिणामोंसे उत्पन्न हुई वेदनासे रहित हैं और अपनी आत्मासे उत्पन्न हुए अनन्त और उत्कृष्ट सुखके भोक्ता हैं उन्हें वेदरहित जीव कहते हैं ॥ १७३ ॥

अब वेदोंसे युक्त जीवोंके गुणस्थान आदिकमें अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं---

स्त्रीवेद और पुरुषवेदवाले जीव असंज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं ॥ १०२ ॥

शंका--- इस प्रकार तो दोनों वेदोंका एकसाथ एक जीवमें अस्तित्व प्राप्त हो जायगा?

---

१ मु. इट्ठावाग ।

२ प्रा. पं. १, १०७ । गो. जी. २७५. तथापि स्त्रीपुरुषाभिलाषरूपतीव्रकामवेदनालक्षणो भावनपुंसकवेदोऽस्तीति आचार्यस्य तात्पर्यं ज्ञातव्यं । जी. प्र. टी.

३ मु. तणिट्ठवागग्गि ।

४ प्रा. पं. १, १०८ । गो. जी. २७६. यद्यपि अपगतवेदानिवृत्तिकरणादीनां वेदोदयजनितकामवेदनारूपसंक्लेशाभावः तथापि गुणस्थानातीतमुक्तात्मनां स्वात्मोत्थसुखसद्भावः ज्ञानादिगुणसद्भाववद्दर्शितः । परमार्थवृत्त्या तु अपगतवेदानामेषामपि ज्ञानोपयोगस्वास्थ्यलक्षणपरमानंदो जीवस्वभावोऽस्तीति निश्चेतव्यः । जी. प्र. टी.

कस्मिन् सत्त्वविरोधात् । कथं पुनस्तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेद्भिन्नजीवद्रव्याधारतया पर्यायेणैकद्रव्याधारतया च । तत्र न[1] नपुंसकवेदस्याभावः, तत्र द्वावेव वेदौ भवत इत्यवधारणाभावात् । तत्कुतोऽवसीयत इति चेत् ? ' तिरिक्खा ति-वेदा असण्णिपंचिदियप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति । मणुस्सा ति-वेदा मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ' एतस्मादार्षात् । सुगममन्यत् ।

नपुंसकवेदसत्त्वप्रतिपादनार्थमाह—

णवुंसयवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति[2] ॥ १०३ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एकेन्द्रियाणां न द्रव्यवेद उपलभ्यते, तदनुपलब्धौ कथं तस्य तत्र सत्त्वमिति

समाधान— नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो धर्मोका एकसाथ एक जीवमें सद्भाव होनेमें विरोध आता है ।

शंका— तो फिर नववें गुणस्थानतक इन दोनों वेदोंकी एकसाथ सत्ता कैसे बनेगी ?

समाधान— भिन्न भिन्न जीवोंके आधारपनेकी अपेक्षा और पर्यायरूपसे एक जीवद्रव्यके आधारपनेकी अपेक्षा नववें गुणस्थानतक इन दोनों वेदोंकी सत्ता बन जाती है । अर्थात् एक कालमें भी नाना जीवोंमें अनेक वेद पाये जा सकते हैं और एक जीवमें भी पर्यायकी अपेक्षा कालभेदसे अनेक वेद पाये जा सकते हैं ।

नववें गुणस्थानतक नपुंसक वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, नववें गुणस्थानतक दो ही वेद होते हैं ऐसे अवधारणका (सूत्रमें) अभाव है ।

शंका— यह बात किस प्रमाणसे जानी जाय कि नववें गुणस्थानतक तीनों वेद होते हैं ?

समाधान— ' असंज्ञी पंचेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक तिर्यंच तीनों वेदवाले होते हैं ' और ' मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक मनुष्य तीनों वेदोंसे युक्त होते हैं ' इस आगम-वचनसे यह बात जानी जाती है कि नववें गुणस्थानतक तीनों वेद हैं । शेष कथन सुगम है ।

अब नपुंसकवेदके सत्त्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक नपुंसकवेदवाले जीव पाये जाते हैं ॥ १०३ ॥

शंका— एकेन्द्रिय जीवोंके द्रव्यवेद नहीं पाया जाता है, इसलिये द्रव्यवेदकी उपलब्धि नहीं होने पर एकेन्द्रिय जीवोंमें नपुंसक वेदका अस्तित्व कैसे बतलाया ?

१ ब. न तत्र

२ वेदानुवादेन त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानि सन्ति । स. सि. १. ८. थावरकायप्पहुदी संढो सेसा असण्णिआदी य । अणियट्टिस्स य पढमो भागो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ गो. जी. ३८५.

चेन्माभूत्तत्र द्रव्यवेदः, तस्यात्र प्राधान्याभावात् । अथवा नानुपलब्ध्या तदभावः सिद्धयेत्, सकलप्रमेयव्याप्युपलम्भबलेन तत्सिद्धिः । न स छद्मस्थेष्वस्ति । एकेन्द्रियाणामप्रतिपन्नस्त्रीपुरुषाणां कथं स्त्रीपुरुषविषयाभिलाषा[1] घटत इति चेन्न, अप्रतिपन्नस्त्रीवेदेन भूमिगृहान्तर्वृद्धिमुपगतेन यूना पुरुषेण व्यभिचारात् । सुगममन्यत् ।

अपगतवेदजीवप्रतिपादनार्थमाह--

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तेण परमवगदवेदा चेदि ॥ १०४ ॥

समाधान--- एकेन्द्रियोंमें द्रव्यवेद मत होओ, क्योंकि, उसकी यहां पर प्रधानता नहीं है । अथवा, द्रव्यवेदकी एकेन्द्रियोंमें उपलब्धि नहीं होती है, इसलिये उसका अभाव नहीं सिद्ध होता है । किंतु संपूर्ण प्रमेयोंमें व्याप्त होकर रहनेवाले उपलम्भप्रमाणसे (केवलज्ञानसे) उसकी सिद्धि हो जाती है । परंतु वह उपलम्भ (केवलज्ञान) छद्मस्थोंमें नहीं पाया जाता है ।

विशेषार्थ--- इन्द्रियप्रत्यक्षसे एकेन्द्रियोंमें वेदकी अनुपलब्धि सच्ची अनुपलब्धि नहीं है, क्योंकि, एकेन्द्रियोंमें यद्यपि इन्द्रियोंसे द्रव्यवेदका ग्रहण नहीं होता है तो भी सकल प्रमेयोंमें व्याप्त होकर रहनेवाले केवलज्ञानसे उसका ग्रहण होता है । अतः एकेन्द्रियोंमें इन्द्रिय प्रमाणके द्वारा द्रव्यवेदका अभाव नहीं किया जा सकता है ।

शंका-- जो स्त्रीभाव और पुरुषभावसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं ऐसे एकेन्द्रियोंके स्त्री और पुरुषविषयक अभिलाषा कैसे बन सकती है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, जो पुरुष स्त्रीवेदसे सर्वथा अज्ञात है और भूगृहके भीतर वृद्धिको प्राप्त हुआ है, ऐसे पुरुषके साथ उक्त कथनका व्यभिचार देखा जाता है ।

विशेषार्थ--- यदि यह मान लिया जाय कि एकेन्द्रिय जीव स्त्री और पुरुषसंबन्धी भेदसे सर्वथा अपरिचित होते हैं, इसलिये उनके स्त्री और पुरुषसंबन्धी अभिलाषा नहीं उत्पन्न हो सकती है, तो जो पुरुष जन्मसे ही एकान्तमें वृद्धिको प्राप्त हुआ है और जिसने स्त्रीको कभी भी नहीं देखा है उसके भी युवा होने पर स्त्रीविषयक अभिलाषा नहीं उत्पन्न होना चाहिये । परंतु उसके स्त्रीविषयक अभिलाषा देखी जाती है । इससे सिद्ध है कि स्त्री और पुरुषसंबन्धी अभिलाषाका कारण स्त्री और पुरुषविषयक ज्ञान नहीं है । किंतु वेदकर्मके उदयसे वह अभिलाषा उत्पन्न होती है । वह एकेन्द्रियोंके भी पाया जाता है, अतएव उनके स्त्री और पुरुषविषयक अभिलाषाके होनेमें कोई दोष नहीं आता है ।

शेष व्याख्यान सुगम है ।

अब वेदरहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं---

नववें गुणस्थानके सवेद भागके आगे जीव अपगतवेद होते हैं ॥ १०४ ॥

१ म. विषयाभिलाषे. ब विषयोऽभिलाषो.

२ अपगतवेदेषु अनिवृत्तिबादराद्ययोगकेवल्यन्तानि । स. सि. १, ८.

शेषगुणमधिष्ठिताः सर्वेऽपि प्राणिनोऽपगतवेदाः । न द्रव्यवेदस्याभावः, तेनाधिकाराभावात्[1] । अधिकृतोऽत्र भाववेदः, ततस्तदभावादपगतवेदो नान्यथेति ।

वेदादेशप्रतिपादनार्थमाह—

णेरइया चदुसु ट्ठाणेसु सुद्धा णवुंसयवेदा ॥ १०५॥

नारकेषु शेषवेदाभावः कुतोऽवसीयत[2] इति चेत् 'सुद्धा णवुंसयवेदा' इत्यार्षात् । शेषवेदौ तत्र किमिति न स्यातामिति चेन्न, अनवरतदुःखेषु तत्सत्त्वविरोधात् । स्त्रीपुरुषवेदावपि[3] दुःखमेवेति चेन्न, इष्टकापाकाग्निसमानसंतापात् न्यूनतया[4] तार्णकारीषाग्निसमानपुरुषस्त्रीवेदयोः सुखरूपत्वात् ।

तिर्यग्गतौ वेदनिरूपणार्थमाह—

तिरिक्खा सुद्धा णवुंसगवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव चउरिंदिया त्ति ॥ १०६॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नववें गुणस्थानके सवेद भागसे आगे शेष गुणस्थानोंको प्राप्त हुए जीव अपगतवेद होते हैं । परंतु आगेके गुणस्थानोंमें द्रव्यवेदका अभाव नहीं होता है, क्योंकि, द्रव्यवेदका यहां अधिकार नहीं है । यहां पर तो भाववेदका अधिकार है । इसलिये भाववेदके अभावसे ही उन जीवोंको अपगतवेद जानना चाहिये, द्रव्यवेदके अभावसे नहीं ।

अब वेदका मार्गणाओंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव चारों ही गुणस्थानोंमें शुद्ध (केवल) नपुंसकवेदी होते हैं ॥ १०५ ॥

शंका— नारकियोंमें नपुंसकवेदको छोड़कर दूसरे वेदोंका अभाव है, यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

समाधान— 'नारकी शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं, इस आर्षवचनसे जाना जाता है कि वहां अन्य दो वेद नहीं होते हैं ।

शंका— वहां पर शेष दो वेद क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान— इसलिये नहीं होते कि निरन्तर दुःखी उनमें शेष दो वेदोंके सद्भाव होनेमें विरोध आता है ।

शंका— स्त्री और पुरुषवेद भी दुख ही हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अवाकी अग्निके समान संतापसे न्यून होनेके कारण तृण और कण्डेकी अग्निके समान पुरुषवेद और स्त्रीवेद सुखरूप हैं ।

अब तिर्यंचगतिमें वेदोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यंच एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर चतुरिन्द्रियतक शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं ॥ १०६ ॥

---

१ मु. स्तेन विकारा । २ मु. कथमवसीयत ।
३ मु. वेदादपि । ४ मु. सन्तापान्यूनतया ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अत्र शेषवेदाभावः कुतोऽवसीयत इति चेत् 'सुद्धा णवुंसगवेदा' इत्यार्षात्। पिपीलिकानामण्डदर्शनान्न ते नपुंसका इति चेन्न, अण्डानां गर्भे एवोत्पत्तिरिति नियमाभावात्। विग्रहगतौ न वेदाभावः, तत्राप्यव्यक्तवेदस्य सत्त्वात्।

शेषतिरश्चां कियन्तो वेदा इति शङ्कितशिष्याशङ्कानिराकरणार्थमाह--

तिरिक्खा तिवेदा असण्णिपंचिंदिय-प्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति ॥ १०७ ॥

त्रयाणां वेदानां क्रमेणैव प्रवृत्तिर्नाक्रमेण, पर्यायत्वात्। [1]पर्यायत्वात् कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदा, आजन्मनः आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात्। सुगममन्यत्।

मनुष्यादेशप्रतिपादनार्थमाह--

मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥१०८॥

शंका--- चतुरिन्द्रियतकके जीवोंमें शेष दो वेदोंका अभाव है, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान--- 'एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियतक जीव शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं' इस आर्षवचनसे जाना जाता है कि इनमें शेष दो वेद नहीं होते हैं।

शंका--- चींटियोंके अण्डे देखे जाते हैं, इसलिये ये नपुंसकवेदी नहीं हो सकते है ?

समाधान--- अण्डोंकी उत्पत्ति गर्भमें ही होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है।

विशेषार्थ--- माता- पिताके शुक्र और शोणितसे गर्भधारणा होती है। इस प्रकार गर्भधारणा चींटियोंके नहीं पाई जाती है। अतः उनके अण्डे गर्भज नहीं समझना चाहिये।

विग्रहगतिमें भी वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, यहां पर भी अव्यक्तवेद पाया जाता है।

शेष तिर्यंचोंके कितने वेद होते हैं, इस प्रकारकी आशंकासे युक्त शिष्योंकी शंकाके दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं---

तिर्यंच असंज्ञी पंचेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक तीनों वेदोंसे युक्त होते हैं ॥ १०७ ॥

तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है युगपत् नहीं, क्योंकि, वेद पर्याय है। पर्यायस्वरूप होनेसे जैसे, विवक्षित कषाय केवल अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त ही नहीं रहते है, क्योंकि, जन्मसे लेकर मरणतक किसी एक वेदका उदय पाया जाता है। शेष कथन सुगम है।

मनुष्यगतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं---

मनुष्य मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक तीनों वेदवाले होते हैं ॥ १०८ ॥

---

१ मु. र्नाक्रमेण पर्यायत्वात्। कषाय।

संयतानां कथं त्रिवेदसत्त्वमिति चेन्न, अव्यक्तवेदसत्त्वापेक्षया तत्र तथोक्तेः[1]। सुगममन्यत् ।

वेदत्रयातीतजीवप्रतिपादनार्थमाह—

तेण परमवगदवेदा चेदि ॥ १०९॥

सर्वत्र च-शब्दः समुच्चये द्रष्टव्यः, एते च पूर्वोक्ताश्च सन्तीति । इति शब्दः सर्वत्र समाप्तौ परिगृहीतव्यः । सुगममन्यत् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह—

देवा चदुसु ट्ठाणेसु दुवेदा-इत्थिवेदा पुरिसवेदा ॥ ११०॥

सानत्कुमारमाहेन्द्रादुपरि पुरुषवेदा एव । यत्नमन्तरेण तत्कथं लभ्यत इति चेत् ? 'तेण परमवगदवेदा चेदि' अत्रतनः 'च' शब्दो[2] यतोऽनुक्तसमुच्चयार्थश्च तस्मात्सानत्कुमारादीनां पुंवेदत्वमवसीयते । तिर्यङ्मनुष्यलब्ध्यपर्याप्ताः, सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियाश्च नपुंसका एव । असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च द्विवेदा एव, न

शंका— संयतोंके तीनों वेदोंका सत्त्व कैसे संभव हैं ।

समाधान— नहीं, क्योंकि, अव्यक्तरूपसे वेदोंके अस्तित्वकी अपेक्षा वहां पर तीनों वेदोंकी सत्ता कही । शेष कथन सुगम है ।

अब तीनों वेदोंसे रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नववें गुणस्थानके सवेद भागसे आगेके सभी गुणस्थानवाले जीव अपगतवेद हैं ॥ १०९॥

सब जगह च शब्द समुच्चयरूप अर्थमें जानना चाहिये । अर्थात् वेदरहित और पहले कहे हुए वेदवाले जीव होते हैं । इति शब्द सब जगह समाप्तिरूप अर्थमें ग्रहण करना चाहिये । शेष कथन सुगम है ।

अब देवगतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

देव चार गुणस्थानोंमें स्त्री और पुरुष इस प्रकार दो वेदवाले होते हैं ॥ ११०॥

सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपर सभी देव पुरुषवेदी ही होते हैं ।

शंका— यत्नके विना अर्थात् विना आगम प्रमाणके यह बात कैसे जानी जाय ?

समाधान— 'तेण परमवगदवेदा चेदि' इस सूत्रमें आया हुआ च शब्द अनुक्त अर्थके समुच्चयके लिये है । इसलिये इससे यह जाना जाता है कि सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपरके देव एक पुरुषवेदी ही होते हैं ।

उसी प्रकार, लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच और मनुष्य तथा संमूर्छन पंचेन्द्रिय जीव नपुंसक ही होते हैं । असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यंच ये दोनों स्त्री और पुरुष ये दो

---

१ मु. तयोक्तम् ।   २ मु. अत्रतन च शब्दः ।

नपुंसकवेदाः इत्यादयोऽनुक्तास्तत एवावसेयाः ।

वेदद्वारेण जीवपदार्थमभिधाय कषायमुखेन जीवसमासस्थाननिरूपणार्थमाह–

कसायाणुवादेण अत्थि कोधकसाई माणकसाई मायाकसाई लोभकसाई अकसाई चेदि ॥ १११ ॥

कषायिसामान्येनैकत्वाद्बहूनामप्येकवचनं घटते । क्रोधकषायी मानकषायी मायाकषायी लोभकषायी अकषायीति । अथवा नेदमेकवचनं 'एए सोहंति सिही णच्चंता गिरिवरस्स सिहरम्मि' इत्येवमादिबहुत्वेऽपि एवंविधरूपोपलम्भादनेकान्तात् । अथ स्यात्क्रोधकषायः मानकषायः मायाकषायः लोभकषायः अकषाय इति वक्तव्यम्, कषायेभ्यस्तद्वतां भेदात् इति ? न, जीवेभ्यः पृथक् क्रोधाद्यनुपलम्भात् । तयोर्भेदाभावे कथं भिन्नस्तन्निर्देशो[1] घटत इति चेन्न, अनेकान्ते तदविरोधात् । शब्दनयाश्रयणे क्रोधकषाय

वेदवाले होते हैं, नपुंसक नहीं होते हैं । इत्यादि अनुक्त अर्थ भी उसी च शब्दसे जान लेना ।

वेदमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थको कहकर अब कषाय मार्गणाके द्वारा गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं–

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और अकषायी जीव होते हैं ॥ १११ ॥

कषायी– सामान्यकी अपेक्षा एक होनेके कारण बहुतका भी एकवचनके द्वारा कथन बन जाता है । जैसे, क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और अकषायी । अथवा, 'कोधकसाई' इत्यादि पद एकवचन नहीं हैं, क्योंकि, 'एए सोहंति सिही णच्चंता गिरिवरस्स सिहरम्मि'– अर्थात् गिरिवरके शिखरपर नृत्य करते हुए ये मयूर शोभा पा रहे हैं । इत्यादि प्रयोगोंमें बहुत्वकी विवक्षा रहने पर भी 'कोधकसाई' की तरह 'सिही' इस प्रकार रूपोंकी उपलब्धि होती है । इसलिये इस प्रकारके प्रयोगोंमें अनेकान्त समझना चाहिये ।

शंका––– सूत्रमें क्रोधकषायी आदिके स्थान पर क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय, लोभकषाय और अकषाय कहना चाहिये क्योंकि, कषायोंसे कषायवालोंमें भेद पाया जाता है ?

समाधान––– नहीं, क्योंकि, जीवोंसे पृथक् क्रोधादि कषायें नहीं पाई जाती है ।

शंका––– यदि कषाय और कषायवान्‌में भेद नहीं है तो भिन्न रूपसे उनका निर्देश कैसे बन सकता है ?

समाधान––– नहीं, क्योंकि, अनेकान्तमें भिन्न निर्देशके बन जानेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

विशेषार्थ––– यद्यपि कषायादि धर्म जीवको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं पाये जाते हैं, इस-

१ मु. भिन्नं तन्निर्देशो ।

इति भवति, तस्य शब्दपृष्ठतोऽर्थप्रतिपत्तिप्रवणत्वात् । अर्थनयाश्रयणे क्रोधकषायीति स्यात्, शब्दतोऽर्थस्य भेदाभावात् । कषायिचातुर्विध्यात्कषायस्य चातुर्विध्यमवगम्यत इति वा । यथोपदिष्टस्यानुवदनमनुवादः कषायस्य अनुवादः कषायानुवादः, तेन कषायानुवादेन । प्रसिद्धस्यानुकथनमनुवादः । सिद्धासिद्धाश्रया हि कथामार्गा इति न्यायादनुवादोऽनर्थकः, अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावाद्वेति ? न, प्रवाहरूपेणापौरुषेयत्वतस्तीर्थकृदादयोऽस्य व्याख्यातार एव न कर्तार इति ज्ञापनार्थत्वात् । कः क्रोधकषायः ? रोष आमर्षः संरम्भः । को मानकषायः ? रोषेण विद्यातपोजात्यादिमदेन वान्यस्यानवनतिः । निकृतिर्वञ्चना मायाकषायः । गर्हा काङ्क्षा लोभः । उक्तं च–

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

लिये जीवसे वे अभिन्न हैं । फिर भी धर्म-धर्मीभेदसे उनमें भेद बन जाता है, अतएव भिन्न निर्देश करनेमें कोई आपत्ति नहीं आती है ।

अथवा, शब्दनयका आश्रय करने पर ‘ क्रोधकषाय ’ इत्यादि प्रयोग बन जाते हैं, क्योंकि, शब्दनय शब्दानुसार अर्थज्ञान करानेमें समर्थ है । और अर्थनयका आश्रय करने पर ‘ क्रोधकषायी ’ इत्यादि प्रयोग होते हैं, क्योंकि, इस नयकी दृष्टिमें शब्दसे अर्थका कोई भेद नहीं है । अथवा, चार प्रकारके कषायवान् जीव होते हैं, इससे कषाय भी चार प्रकारकी हैं, ऐसा ज्ञान हो जाता है । इसलिये सूत्रमें ‘ क्रोधकषायी ’ इत्यादि पदोंका प्रयोग किया है ।

जिस प्रकार उपदेश दिया हैं उसीप्रकारके कथन करनेको अनुवाद करते हैं । कषायके अनुवादको कषायानुवाद कहते हैं । उससे अर्थात् कषायानुवादसे जीव पांच प्रकारके होते हैं । अथवा, प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं ।

शंका—– ‘ कथामार्ग अर्थात् कथनपरंपराएँ प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध इन दोनोंके आश्रयसे प्रवृत्त होती हैं ’ इस न्यायके अनुसार यहां पर अनुवाद अर्थात् केवल प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल कथन करना निष्फल है, इससे अनधिगत अर्थका ज्ञान नहीं होता है ?

समाधान—– नहीं, क्योंकि, यह कथन प्रवाहरूपसे अपौरुषेय होनेके कारण तीर्थंकर आदि इसके केवल व्याख्यान करनेवाले ही हैं, कर्ता नहीं हैं, इस बातका ज्ञान करानेके लिये अनुवाद पदका कहना अनर्थक नहीं है ।

शंका—– क्रोधकषाय किसे कहते हैं ?

समाधान—– रोष, आमर्ष और संरम्भ इन सबको क्रोध कहते हैं ।

शंका—– मानकषाय किसे कहते हैं ?

समाधान—– रोषसे अथवा विद्या, तप और जाति आदिके मदसे अन्यके प्रति नम्र न होनेको मान कहते हैं ।

निकृति या वंचनाको मायाकषाय कहते हैं । गर्हा या आकांक्षाको लोभ कहते हैं, कहा भी है—

सिल-पुढवि-भेद-धूली-जल-राई-समाणओ हवे कोहो ।
णारय-तिरिय-णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो[1] ॥ १७४ ॥

सेलट्ठि-कट्ठ-वेत्तं णियभेएणणुहरंतओ माणो ।
णारय-तिरिय-णरामर-गइ-विसयुप्पायओ कमसो[2] ॥ १७५ ॥

वेलुवमूलोरब्भय-सिंगे गोमुत्तएण खोरप्पे ।
सरिसी माया णारय-तिरिय-णरामर-गईसु खिवदि जियं[3] ॥ १७६ ॥

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

किमिराय-चक्क-तणु-मल-हरिद्द-राएण सरिसओ लोहो ।
णारय-तिरिक्ख-माणुस-देवेसुप्पायओ कमसो[4] ॥ १७७ ॥

क्रोधकषाय चार प्रकारका है– पत्थरकी रेखाके समान, पृथिवीकी रेखाके समान, धूलिरेखाके समान और जलरेखाके समाने। ये चारों ही क्रोध क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमें उत्पन्न करानेवाले होते हैं ॥ १७४ ॥

मान चार प्रकारका है– पत्थरके समान, हड्डीके समान, काठके समान तथा बेतके समान। ये चार प्रकारके मान क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिके उत्पादक हैं ॥ १७५ ॥

माया चार प्रकारकी है– बांसकी जड़के समान, मेढेके सींगके समान, गोमूत्रके समान तथा खुरपाके समान। यह चार प्रकारकी माया क्रमसे जीवको नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमें ले जाती है ॥ १७६ ॥

लोभकषाय चार प्रकारका है– क्रिमिरागके समान, चक्रमलके समान, शरीरके मलके समान और हल्दीके रंगके समान। यह क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गतिका उत्पादक है ॥ १७७ ॥

---

१ प्रा. पं. १, १११। गो. जी. २८४. तत्तच्छक्तियुक्तक्रोधकषायपरिणतो जीवः तत्तद्गत्युत्पत्तिकारणतत्तदायुर्गत्यानुपूर्व्यादिप्रकृतीर्बध्नातीत्यर्थः। अत्र राजिशब्दो रेखार्थवाची न तु पंक्तिवाची। यथा शिलादिभेदानां चिरतरचिरशीघ्रशीघ्रतरकालैर्विना अनुसन्धानं न घटते तथोत्कृष्टादिशक्तियुक्तक्रोधपरिणतो जीवोऽपि तथाविधकालैर्विना क्षमालक्षणसंधानार्हो न स्यात् इत्युपमानोपमेययोः सादृश्यं संभवतीति तात्पर्यार्थः। जी. प्र. टी. णगपुढविबालुगोदयराईसरिसो चउव्विहो कोहो। कसायपाहुड, जलरेणुपुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो। क. ग्रं. १. १९.

२ प्रा. पं. १, ११२। गो. जी. २८५. सेलघणअट्ठिदारुअलदासमाणो हवदि माणो ॥ कसायपहुड. तिणिसलयाकट्ठट्ठियअसेलत्थंभोवमो माणो। क. ग्रं. १. १९.

३ प्रा. पं. १, ११३। गो. जी. २८६. वंसीजण्हुगसरिसी मेढविसाणसरिसी य गोमुत्ती। अवलेहणीसमाणा माया वि चउव्विहा भणिदा ॥ कसायपहुड. मायावलेहिगोमुत्तिमिढसिंगघनवंसिमूलसमा। क. ग्रं १. २०.

४ प्रा. पं. १, ११४। गो. जी. २८७. किमिरागरत्तसमगो अक्खमलसमो य पंसुलेवसमो। हालिद्दवत्थसमगो लोभो वि चउव्विहो भणिदो ॥ कसायपहुड. लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसमाणो।

सकलकषायाभावोऽकषायः । उक्तं च--

अप्प-परोभय-बाधण-बंधासंजम-णिमित्त-कोधादी ।
जेंसि णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा[1] ॥ १७८ ॥

कषायाध्वानप्रतिपादनार्थमाह--

कोधकसाई माणकसाई मायकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥ ११२ ॥

यतीनामपूर्वकरणादीनां कथं कषायास्तित्वमिति चेन्न, अव्यक्तकषायापेक्षया तथोपदेशात् । सुगममन्यत् ।

लोभस्याध्वाननिरूपणार्थमाह--

....

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संपूर्ण कषायोंके अभावको अकषाय कहते हैं। कहा भी है--

जिनके, स्वयं अपनेको दूसरेको तथा दोनोंको बाधा देने, बन्ध करने और असंयम करनेमें निमित्तभूत क्रोधादि कषाय नहीं हैं, तथा जो बाह्य और आभ्यन्तर मलसे रहित हैं ऐसे जीवोंको अकषाय कहते हैं ॥ १७८ ॥

अब कषायमार्गणाके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

एकेन्द्रियसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक क्रोधकषायी, मानकषायी और माया-कषायी जीव होते हैं ॥ ११२ ॥

शंका--- अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवाले साधुओंके कषायका अस्तित्व कैसे पाया जाता है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, अव्यक्त कषायकी अपेक्षा वहां पर कषायोंके अस्तित्वका उपदेश दिया है । शेष कथन सुगम है ।

अब लोभकषायके विशेष प्ररूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं---

....

क. ग्रं. १. २०.

१ प्रा. पं. १, ११६ । गो. जी. २८९. यद्यपि उपशांतकषायादिचतुर्गुणस्थानवर्तिनोऽपि अकषाया अमलाश्च यथासंभवं द्रव्यभावमलरहिताः संति तथापि तेषां गुणस्थानप्ररूपणयैव अकषायत्वसिद्धिरस्तीति ज्ञातव्यं । तद्यथा, कस्यचिज्जीवस्य क्रोधादिकषायः स्वस्यैव बन्धनहेतुः स्वशिरोभिघातादिबाधाहेतुः हिंसाद्यसंयमहेतुश्च भवति । कस्यचिज्जीवस्य क्रोधादिकषायः परस्य स्वशत्र्वादेर्बाधनबंधनासंयमहेतुर्भवति । कस्यचित्कामुकादिजीवस्य क्रोधादिकषायः स्वपरयोरपि यथासंभवं बाधनबन्धनासंयमहेतुर्भवति इति विभागः लोकानुसारेण आगमानुसारेण च द्रष्टव्यः । जी. प्र. टी.

२ कषायानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्यादृष्टयादीनि अनिवृत्तिबादरस्थानान्तानि सन्ति । स. सि. १.८.

"लोभकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा त्ति ॥ ११३ ॥

शेषकषायोदयविनाशे लोभकषायस्य विनाशानुपपत्तेः लोभकषायस्य सूक्ष्म-साम्परायोऽवधिः ।

अकषायोपलक्षितगुणप्रतिपादनार्थमाह--

अकसाई चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि उवसंतकसाय-वीयराय-छदुमत्था खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति[2] ॥ ११४ ॥

उपशान्तकषायस्य कथमकषायत्वमिति चेत् ? कथं च न भवति ? द्रव्य-कषायस्यानन्तस्य सत्त्वात् । न, कषायोदयाभावापेक्षया तस्याकषायत्वोपपत्तेः । सुगमम्न्यत् । कषायस्यादेशः किमिति नोक्तमिति चेन्न, विशेषाभावतोऽनेनैव गतार्थत्वात् ।

लोभकषायसे युक्त जीव एकेन्द्रियोंसे लेकर सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत गुणस्थानतक होते हैं ॥ ११३ ॥

शेष कषायोंके उदयके नाश हो जाने पर उसी समय लोभकषायका विनाश बन नहीं सकता है, इसलिये लोभकषायकी अन्तिम मर्यादा सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान है ।

कषायरहित जीवोंसे उपलक्षित गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

कषायरहित जीव उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ ११४ ॥

शंका-- उपशान्तकषाय गुणस्थानको कषायरहित कैसे कहा ?

प्रतिशंका-- यह कषायरहित क्यों नहीं हो सकता है ?

शंका-- वहां अनन्त द्रव्यकषायका सद्भाव होनेसे उसे कषायरहित नहीं कह सकते हैं ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, कषायके उदयके अभावकी अपेक्षा उसमें कषायोंसे रहितपना बन जाता है । शेष कथन सुगम है ।

शंका-- कषायोंका विशेष (मार्गणाओंमें) कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, कषायोंके सामान्य कथनसे उनका मार्गणाओंमें कथन करनेमें कोई विशेषता नहीं है, इसीसे उसका ज्ञान हो जाता है, इसलिये आदेश प्ररूपणा नहीं की।

१ लोभकषाये तान्येव सूक्ष्मसाम्परायस्थानाधिकानि । स. सि १. ८.

२ अकषायः उपशान्तकषायः क्षीणकषायः सयोगकेवली अयोगकेवली चेति । स. सि. १. ८.

ज्ञानद्वारेण जीवपदार्थनिरूपणार्थमाह—

णाणाणुवादेण अत्थि मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंगणाणी आभिणिबोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी चेदि ॥ ११५ ॥

अत्रापि पूर्ववत्पर्यायपर्यायिणोः कथञ्चिदभेदात्पर्यायिग्रहणेऽपि पर्यायस्य ज्ञानस्यैव ग्रहणं भवति। ज्ञानिनां भेदाद् ज्ञानभेदोऽवगम्यत इति वा पर्यायिद्वारेणोपदेशः। ज्ञानानुवादेन कथमज्ञानस्य ज्ञानप्रतिपक्षस्य सम्भव इति चेन्न, मिथ्यात्वसमवेतज्ञानस्यैव ज्ञानकार्याकरणादज्ञानव्यपदेशात् पुत्रस्यैव पुत्रकार्याकरणादपुत्रव्यपदेशवत्। किं तद् ज्ञानकार्यमिति चेत्तत्त्वार्थे रुचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्रस्पर्शनं च। अथवा प्रधानपदमाश्रित्याज्ञानानामपि ज्ञानव्यपदेशः आम्रवनमिति यथा। जानातीति ज्ञानं साकारोपयोगः। अथवा जानात्यज्ञासीज्ज्ञास्यत्यनेनेति वा ज्ञानं ज्ञानावरणीयकर्मणः एकदेशप्रक्षयात् समुत्पन्नात्मपरिणामः क्षायिको वा। तदपि ज्ञानं द्विविधम्-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अब ज्ञानमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे मति-अज्ञानी श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीव होते हैं ॥ ११५ ॥

यहां पर भी पहलेकी तरह पर्याय और पर्यायीमें कथंचित् अभेद होनेसे पर्यायीके ग्रहण करने पर भी पर्यायरूप ज्ञानका ही ग्रहण होता है। अथवा, ज्ञानी कितने प्रकारके होते हैं इस बातके समझ लेनेसे ज्ञानके भेदोंका ज्ञान हो जाता है। इसलिये पर्यायीके कथनद्वारा यहां पर उपदेश दिया है।

शंका— ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे ज्ञानके प्रतिपक्षभूत अज्ञानका ज्ञानमार्गणामें कैसे संभव है?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही ज्ञानका कार्य नहीं करनेसे अज्ञान कहा है। जैसे, पुत्रोचित कार्यको नहीं करनेवाले पुत्रको ही अपुत्र कहा जाता है।

शंका— वह ज्ञानका कार्य क्या है?

समाधान— तत्त्वार्थमें रुचि, निश्चय, श्रद्धा और चारित्रका धारण करना ज्ञानका कार्य है। अथवा, प्रधानपदकी अपेक्षा अज्ञानको भी ज्ञान कहा जाता है। जैसे, जिस वनमें आमके वृक्षोंकी बहुलता होती है उसे आम्रवन कहा जाता है।

जो जानता है उसे ज्ञान कहते। अर्थात् साकार उपयोगको ज्ञान कहते हैं। अथवा, जिसके द्वारा यह आत्मा जानता है, जानता था अथवा जानेगा, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके एकदेश क्षयसे अथवा संपूर्ण ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुए आत्माके परिणामको ज्ञान कहते हैं।

प्रत्यक्षं परोक्षमिति। परोक्षं द्विविधम्– मतिः श्रुतमिति। तत्र पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहणं तन्मतिज्ञानम्। तदपि चतुर्विधम्– अवग्रह ईहा अवायो धारणा चेति। विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः[1]। अवग्रहीतस्यार्थस्य विशेषाकाङक्षणमीहा। ईहितस्यार्थस्य निश्चयोऽवायः। कालान्तरेऽप्यविस्मरणसंस्कारजनकं ज्ञानं धारणा[2]। अथवा चतुर्विंशतिविधं मतिज्ञानम्। तद्यथा, चाक्षुषं[3] चतुर्विधम्– मतिज्ञानमवग्रहः ईहावायो धारणा चेति। एवं शेषाणामपि इन्द्रियाणां मनसश्च वाच्यम्। अथवा अष्टाविंशतिविधम्। तद्यथा, अवग्रहो द्विविधः– अर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्चेति। कोऽर्थावग्रहश्चेत्? अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः।

वह ज्ञान दो प्रकारका है– प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्षके दो भेद हैं– मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। उनमें पांच इन्द्रियों और मनसे जो पदार्थका ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। वह मतिज्ञान चार प्रकारका है– अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। विषय और विषयीके संबन्ध होनेके अनन्तर समयमें जो प्रथम ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहते हैं। अवग्रहसे ग्रहण किये गये पदार्थके विशेषको जाननेके लिये अभिलाषरूप जो ज्ञान होता है उसे ईहा कहते हैं। ईहाके द्वारा जाने गये पदार्थके निश्चयरूप ज्ञानको अवाय कहते हैं। कालान्तरमें भी विस्मरण न होनेरूप संस्कारके उत्पन्न करनेवाले ज्ञानको धारणा कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अथवा, मतिज्ञान चौवीस प्रकारका है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है– चक्षु इन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान चार प्रकारका है अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इसीप्रकार शेष चार इन्द्रियोंसे और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे चार चार प्रकारका है इस प्रकार कथन करना चाहिये। इस प्रकार ये सब मिलकर चौवीस भेद हो जाते हैं। अथवा, मतिज्ञान अट्ठाईस प्रकारका है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। अवग्रह दो प्रकारका है– अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह।

शंका–– अर्थावग्रह किसे कहते हैं?

समाधान–– अप्राप्त अर्थके ग्रहण करनेको अर्थावग्रह कहते हैं।

---

१ विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः। स. सि. १. १५. विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः। त. रा. वा. १. १५. विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः। विषयस्तावद् द्रव्यपर्यायात्मार्थः विषयिणो द्रव्यभावेन्द्रियं अर्थग्रहणं योग्यतालक्षणं तदनन्तरभूतं सन्मात्रं दर्शनं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्पमुत्तरं परिणामं प्रतिपद्यतेऽवग्रहः। लघीयस्त्र. स्वो. वृ. लि. पृ. २ प्र. पं. १–३। तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः। तत्त्वार्थ. भा. १. १५. विषयविषयिसंनिपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः। प्रमाणनयत. २. ७. अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः। प्रमाणमी. १. १. २७.

२ एषां विशेषार्थपरिज्ञानाय विशेषावश्यकभाष्यं १७९, तः ३५०. गाथान्तं यावद् द्रष्टव्यम्। उग्गहो एक्कं समयं ईहावाया मुहुत्तमंतं तु। कालमसंखं संखं च धारणा होई णायव्वा॥ आ. नि. ४.

३ मु. चाक्षुषं च।

को व्यञ्जनावग्रहः ? प्राप्तार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः[1]। तत्र चक्षुर्मनसोरर्थावग्रह एव, तयोः प्राप्तार्थग्रहणानुपलम्भात्। शेषाणामिन्द्रियाणां द्वावप्यवग्रहौ भवतः। शेषेन्द्रियेष्व-प्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्न, एकेन्द्रियेषु योग्यदेशस्थितनिधिषु निधिस्थितप्रदेश

शंका— व्यंजनावग्रह किसे कहते हैं ?

समाधान— प्राप्त अर्थके ग्रहण करनेको व्यंजनावग्रह कहते हैं।

उनमें, चक्षु और मनसे अर्थावग्रह ही होता है, क्योंकि, इन दोनोंमें प्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है। शेष चारों ही इन्द्रियोंके अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ये दोनों भी पाये जाते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका— शेष इन्द्रियोंमें अप्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोंमें उनका योग्य देशमें स्थित निधियोंके होने पर जिस प्रदेशमें निधिस्थित है उस प्रदेशमें ही अंकुरोंका फैलाव अन्यथा बन नहीं सकता है,

---

१ व्यञ्जनमव्यक्तं शब्दादिजातं तस्यावग्रहो भवति। × × ननु अवग्रहग्रहणमुभयत्र तुल्यं तत्र किंकृतोऽयं विशेषः ? अर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहयोर्व्यक्ताव्यक्तकृतो विशेषः। कथम् ? अभिनवशरावार्द्रीकरण-वत्। यथा जलकणद्वित्रिसिक्तः शरावोऽभिनवो नार्द्रीभवति, स एव पुनः पुनः सिच्यमानः शनैस्तिम्यते, एवं श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादिपरिणताः पुद्गला द्वित्र्यादिषु समयेषु गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति, पुनः पुनरवग्रहे सति व्यक्तीभवन्ति। अतो व्यक्तग्रहणात्प्राग्व्यञ्जनावग्रहः। व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः। स. सि. १. १८। त. रा. वा. १. ५८. वा. २. अव्यक्तमत्र शब्दादिजातं व्यंजनमिष्यते। तस्यावग्रह एवेति नियमोऽव्यक्तवद्गतः॥ त. श्लो. वा. १. १८. २. × × इन्द्रियैः प्राप्तार्थविशेषग्रहणं व्यंजनावग्रहः। तैरप्राप्तार्थविशेषग्रहणं अर्थावग्रह इत्यर्थः। व्यंजनं अव्यक्तं शब्दादिजातं इति तत्त्वार्थविवरणेषु प्रोक्तं कथमनेन व्याख्यानेन सह संगतमिति चेदुच्यते, विगतं–अंजनं–अभिव्यक्तिर्यस्य तद् व्यंजनं। व्यज्यते म्रक्ष्यते प्राप्यते इति व्यंजनं। अंजु गतिव्यक्ति-म्रक्षणेष्विति व्यक्तिम्रक्षणार्थयोर्ग्रहणात्। शब्दाद्यर्थः श्रोत्रादीन्द्रियेण प्राप्तोऽपि यावन्नाभिव्यक्तस्तावद् व्यंजन-मित्युच्यते एकवारजलकणसिक्तनूतनशराववत्। पुनरभिव्यक्तौ सत्यां स एवार्थो भवति। गो. जी., जी. प्र., टी. ३०७. × × अर्य्यते इत्यर्थः अर्थस्यावग्रहणं अर्थावग्रहः, सकलरूपादिविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थ-ग्रहणमेकसामयिकमित्यर्थः। तथा व्यज्यते अनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनं, तच्चोपकरणेन्द्रियस्य श्रोत्रादेः शब्दादिपरिणतद्रव्याणां च परस्परं सम्बन्धः, सम्बन्धे हि सति सोऽर्थः शब्दादिरूपः श्रोत्रादीन्द्रियेण व्यंजयितुं शक्यते नान्यथा, ततः सम्बन्धो व्यंजनं। × × व्यंजनेन–सम्बन्धेनावग्रहणं सम्बध्यमानस्य शब्दादिरूपस्यार्थ-स्याव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यंजनावग्रहः। अथवा व्यज्यन्ते इति व्यंजनानि, कृद्बहुलमिति वचनात् कर्मण्यनट्, व्यंजनानां शब्दादिरूपतया परिणतानां द्रव्याणामुपकरणेन्द्रियसम्प्राप्तानामवग्रहः अव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः। × × इयमत्र भावना उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसम्बन्धे प्रथमसमयादारभ्यार्थावग्रहात् प्राक् या सुप्तमत्तमूर्छितादिपुरुषाणामिव शब्दादिद्रव्यसम्बन्धमात्रविषया काचिदव्यक्ता ज्ञानमात्रा सा व्यञ्जनाव-ग्रहः, स चान्तर्मुहूर्तप्रमाणः। नं. सू. पृ. १६८. २ कोऽर्थावग्रहः व्यंजनावग्रहो वा ? अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः। प्राप्तार्थग्रहणं व्यंजनावग्रहः। न स्पष्टास्पष्टग्रहणेऽर्थव्यंजनावग्रहौ। तयोश्चक्षुर्मनसोरपि सत्त्वतस्तत्र व्यंजनाव-ग्रहस्य सत्त्वप्रसंगादस्तुचेन्न, न चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामिति तत्र व्यंजनावग्रहस्य प्रतिषेधात्। न शनैर्ग्रहणं व्यंजनाव-

एव प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तितः स्पर्शनस्याप्राप्तार्थग्रहणसिद्धेः। शेषेन्द्रियाणामप्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्माभूदुपलम्भस्तथापि तदस्त्येव। यद्युपलम्भस्त्रिकालगोचरमशेषं पर्यच्छेत्स्यदनुपलब्धस्याभावोऽभविष्यत्। न चैवमनुपलम्भात्। न कात्स्न्येनाप्राप्तमर्थस्यानिःसृतत्वमनुक्तत्वं वा ब्रूमहे यतस्तदवग्रहादिनिदानमिन्द्रियाणामप्राप्य-

....

इसलिये स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना सिद्ध हो जाता है।

शंका— इसप्रकार यदि स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना बन जाता है तो बन जाओ। फिर भी शेष इन्द्रियोंके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना नहीं पाया जाता है ?

समाधान— यदि शेष इन्द्रियोंसे अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना नहीं पाया जाता है तो मत पाया जावे। तो भी वह है ही, क्योंकि, यदि हमारा ज्ञान त्रिकालगोचर समस्त पदार्थोंको जाननेवाला होता तो अनुपलब्धका अभाव सिद्ध हो जाता, अर्थात् हमारा ज्ञान यदि सभी पदार्थोंको जानता तो कोई भी पदार्थ उसके लिये अनुपलब्ध नहीं रहता। किंतु हमारा ज्ञान तो त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जाननेवाला है नहीं, क्योंकि सर्व पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानकी हमारे उपलब्धि ही नहीं होती है। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि शेष इन्द्रियाँ अप्राप्त पदार्थको ग्रहण करती हैं इस बातको यदि हम न भी जान सकें, तो भी उसका निषेध नहीं किया जा सकता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दूसरे, पदार्थके पूरी तरहसे अनिःसृतपनेको और अनुक्तपनेको हम अप्राप्त नहीं कहते हैं। जिससे उनके अवग्रहादिका कारण इन्द्रियोंका अप्राप्यकारीपना होवे।

ग्रहः चक्षुर्मनसोरपि तदस्तित्वतः तयोर्व्यंजनावग्रहस्य सत्त्वप्रसंगात्। न च तत्र शनैर्ग्रहणमसिद्धमक्षिप्रभंगाभावे अष्टचत्वारिंच्चक्षुर्मतिज्ञानभेदस्यासत्त्वप्रसंगात्। न श्रोत्रादीन्द्रियचतुष्टयेऽर्थावग्रहः तत्र प्राप्तस्यैवार्थस्य ग्रहणोपलंभात् इति चेन्न, वनस्पतिष्वप्राप्तग्रहणस्योपलंभात्। तदपि कुतोऽवगम्यते ? दूरस्थनिधिमुद्दिश्य प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तेः। चत्तारि धणुसयाइं चउसट्ठसयं च तह य धणुहाणं। पासे रसे य गंधे दुगुणा दुगुणा असण्णि त्ति ॥ × × इति आगमाद्वा तेषामप्राप्तार्थग्रहणमवगम्यते। नवयोजनान्तरस्थितपुद्गलद्रव्यस्कंधैकदेशमागम्येन्द्रियसंबन्धं जानंतीति केचिदाचक्षते तन्न घटते, अध्वानप्ररूपणायाः वैफल्यप्रसंगात्। न चाध्वानं द्रव्याल्पीयस्त्वस्य कारणं स्वमहत्त्वापरित्यागेन भूयो योजनानि संचरज्जीमूतव्रातोपलम्भतोऽनेकांतात्। किंच यदि प्राप्तार्थग्राहिण्येवेन्द्रियाण्यध्वाननिरूपणमंतरेण द्रव्यप्रमाणप्ररूपणमेवाकरिष्यन्न चैव तथानुपलंभात् ॥ किं च नवयोजनांतरस्थिताग्निविषाभ्यां तीव्रस्पर्शरसक्षयोपशमानां दाहमरणे स्यातां प्राप्तार्थग्रहणात् तावन्मात्राध्वानस्थिताशुचिभक्षणतद्गंधजनितदुःखे च तत एव स्याताम्। पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं चेय पस्सदे रूवं। गंधं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं च जाणादि ॥ इत्यस्मात् सूत्रादप्राप्तार्थग्राहित्वमिन्द्रियाणामवगम्यत इति चेन्न, अर्थावग्रहस्य लक्षणाभावतः खरविषाणस्येवाभावप्रसंगात्। कथं पुनरस्याः गाथाया अर्थो व्याख्यायते ? उच्यते, रूपमस्पष्टमेव चक्षुर्गृह्णाति च-शब्दान्मनश्च। गंधं रसं स्पर्शंच बद्धं स्वकं स्वकेन्द्रियेषु नियमितं पुट्ठं स्पष्टं च-शब्दादस्पष्टं च शेषेन्द्रियाणि गृह्णंति। पुट्ठं सुणेइ सद्दं इत्यत्रापि बद्धं च शब्दौ योज्यौ अन्यथा दुर्व्याख्यानतापत्तेः। धवला ६९८–६९९.

कारित्वमिति । किं तर्हि ? कथं चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामनिःसृतानुक्तावग्रहादिः, तयोरपि प्राप्यकारित्वप्रसङ्गादिति चेन्न, योग्यदेशावस्थितेरेव प्राप्तेरभिधानात्। तथा च रसगन्धस्पर्शानां स्वग्राहिभिरिन्द्रियैः स्पष्टं स्वयोग्यदेशावस्थितिः शब्दस्य च। रूपस्य चक्षुषाभिमुखतया, न तत्परिच्छेदिना चक्षुषा प्राप्यकारित्वमनिःसृतानुक्तावग्रहादिसिद्धेः । किं च तेनाभिहितेनानुक्तावग्रहः, यथा दध्नो गन्धग्रहणकाल एव तद्रसोपलम्भः । नियमितधर्मविशिष्टवस्तुनो वस्त्वेकदेशस्य वा ग्रहणमुक्तावग्रहः । सोऽयमित्यादि ध्रुवावग्रहः । न सोऽयमित्याद्यध्रुवावग्रहः । एवमीहादीनामपि योज्यम् । सर्वाण्येतानि मतिज्ञानम् ।

शब्दधूमादिभ्योऽर्थान्तरावगमः श्रुतज्ञानम्[1] । तत्र शब्दलिङ्गजं

शंका—— तो फिर क्या है ? और यदि पूरी तरहसे अनिःसृतत्व और अनुक्तत्वको अप्राप्त नहीं कहते हो तो चक्षु और मनसे अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि कैसे हो सकेंगे ? यदि चक्षु और मनसे भी पूर्वोक्त अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि माने जावेंगे तो उन्हें भी प्राप्यकारित्वका प्रसंग आ जायगा ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, इन्द्रियोंके ग्रहण करनेके योग्य देशमें पदार्थोंकी अवस्थितिको ही प्राप्ति कहते हैं। ऐसी अवस्थामें रस, गन्ध और स्पर्शका उनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंके साथ अपने अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट ही है । शब्दका भी उसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियके साथ अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है । उसी प्रकार रूपका चक्षुके साथ अभिमुखरूपसे अपने देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है, क्योंकि, रूपको ग्रहण करनेवाले चक्षुके साथ रूपका प्राप्यकारीपना नहीं बनता है । इस प्रकार अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रहादिक सिद्ध हो जाते हैं ।

उपर कहे हुए कथनानुसार अनुक्तावग्रह यह है । जैसे, दहीके गन्धके ग्रहण करनेके कालमें ही दहीके रसकी भी उपलब्धि हो जाती है । निश्चित धर्मोंसे युक्त वस्तुका अथवा वस्तुके एकदेशका ग्रहण करना उक्तावग्रह है । ' वह यही है ' इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको ध्रुवावग्रह कहते हैं । ' वह यह नहीं है ' इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको अध्रुवावग्रह कहते हैं । इसी प्रकार ईहादिसंबन्धी उक्त अनुक्त आदिको भी जानना चाहिये । इन सभी भेदोंको मतिज्ञान कहते हैं ।

शब्द और धूमादिक लिंगके द्वारा जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । उनमें शब्दके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाला श्रुतज्ञान दो प्रकारका है, अंग

---

१ अवग्गहादिधारणापेरंतमदिणाणेण अवगयत्थादो अण्णत्थावगमो सुदणाणं । तं च दुविहं, सद्दलिंगजं असद्दलिंगजं चेदि । धूमलिंगादो जलणावगमो असद्दलिंगजो । अवरो सद्दलिंगजो । किं लक्खणं लिंगं ? अण्णहाणुववत्ति लक्खणं । धवला. अ. पृ. ११७१.

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द्विविधमङ्गमङ्गबाह्यमिति । अङ्गश्रुतं द्वादशविधम् । अङ्गबाह्यं चतुर्दशविधम् । प्रत्यक्षं त्रिविधम्[1], अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमिति । साक्षान्मूर्ताशेषपदार्थपरिच्छेदकमवधिज्ञानम् । साक्षान्मनः समादाय मानसार्थानां साक्षात्करणं मनःपर्ययज्ञानम्[2] । साक्षात्त्रिकालगोचराशेषपदार्थपरिच्छेदकं केवलज्ञानम्[3] । मिथ्यात्वसमवेतमिन्द्रियजज्ञानं मत्यज्ञानम् । तेनैव समवेतः शाब्दः प्रत्ययः श्रुताज्ञानम् । तत्समवेतमवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानम् । उक्तं च––

विस-जंत-कूड-पंजर-बंधादिसु विणुवदेस-करणेण ।
जा खलु पवत्तइ मदी मदि-अण्णाणे त्ति तं बेंति[4] ॥ १७९ ॥
आभीयमासुरक्खा भारह-रामायणादि-उवएसा ।
तुच्छा असाहणीया सुद-अण्णाणे त्ति तं बेंति[5] ॥ १८० ॥

और अंगबाह्य । अंगश्रुत बारह प्रकारका है और अंगबाह्य चौदह प्रकारका है ।

प्रत्यक्षज्ञानके तीन भेद हैं, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । संपूर्ण मूर्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं । मनका आश्रय लेकर मनोगत पदार्थोंके साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं । त्रिकालके विषयभूत समस्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं ।

इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वसमवेत ज्ञानको मत्यज्ञान कहते हैं । शब्दके निमित्तसे जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका मिथ्यात्वसमवेत ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । मिथ्यादर्शनसमवेत अवधिज्ञानको विभंगज्ञान कहते है । कहा भी है—

दूसरेके उपदेश विना विष, यन्त्र, कूट, पंजर तथा बन्ध आदिके विषयमें जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं ॥ १७९ ॥

चौरशास्त्र, हिंसाशास्त्र, भारत और रामायण आदिके तुच्छ और साधन करनेके अयोग्य उपदेशोंको श्रुतज्ञान कहते हैं ॥ १८० ॥

---

१ अपरायत्तं नाणं पच्चक्खं तिविहमोहिमाईयं । जं परतो आयत्तं तं पारोक्खं हवइ सव्वं ॥ बृ. क. सू. २९.

२ तं मणपज्जवनाणं जेण वियाणाइ सन्निजीवाणं । दट्ठं मणिज्जमाणे मणदव्वे माणसं भावं । बृ. क. सू. ३५.

३ दव्वादिकसिणविसयं केवलमेगं तु केवलन्नाणं । अणिवारियवावारं अणंतमविकप्पियं नियतं । बृ. क. सू. ३८.

४ प्रा. पं. १, ११८ । गो. जी. ३०३. उपदेशपूर्वकत्वे श्रुतज्ञानत्वप्रसंगात् । उपदेशक्रियां विना यदीदृशमूहापोहविकल्पात्मकं हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहकारणं आर्तरौद्रध्यानकारणं शल्यदंडगारवसंज्ञाद्यप्रशस्तपरिणामकारणं च इन्द्रियमनोजनिताविशेषग्रहणरूपं मिथ्याज्ञानं तन्मत्यज्ञानमिति निश्चेतव्यम् । जी. प्र. टी.

५ प्रा. पं. १, ११९ । गो. जी. ३०४. आ समंताद्भीताः आभीताः चोराः तच्छास्त्रमप्याभीतं । असवः प्राणाः तेषां रक्षा येभ्यः ते असुरक्षाः तलवराः तेषां शास्त्रमासुरक्षं । आदिशब्दादशेषन्मिथ्यादर्शनदूषितसर्वथैकान्तवादिस्वेच्छाकल्पितकथाप्रबंधभुवनकोशहिंसायागादिगृहस्थकर्म त्रिदंड जटाधारणादितपःकर्मषोडशपदार्थषट्पदार्थभावनाविधिनियोगभूतचतुष्टयपंचविंशतितत्वब्रह्माद्वैतचतुरार्यसत्यविज्ञानाद्वैतसर्वशून्यत्वादिप्रतिपादकागमाभासजनितं श्रुतज्ञानाभासं तत्सर्वं श्रुताज्ञानमिति निश्चेतव्यं, दृष्टेष्टाविरुद्धार्थविषयत्वात् जी. प्र. टी.

विवरीयमोहिणाणं खइयुवसमियं च कम्म-बीजं च ।
वेभंगो त्ति पउच्चइ समत्त-णाणीहि समयम्हि[1] ॥ १८१ ॥
अभिमुह-णियमिय-बोहणमाभिणिबोहियमणिंदि-इंदियजं ।
बहु-ओग्गहाइणा खलु कय-छत्तीस-ति-सय-भेयं[2] ॥ १८२ ॥
अत्थादो अत्थंतर-उवलंभो तं भणंति सुदणाणं ।
आभिणिबोहिय-पुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं[3] ॥ १८३ ॥
अवहीयदि त्ति ओही सीमाणाणे त्ति वण्णिदं समए ।
भव-गुण-पच्चय-विहियं तमोहिणाणे त्ति णं बेंति[4] ॥ १८४ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सर्वज्ञोंके द्वारा आगममें क्षयोपशमजन्य और मिथ्यात्वादि कर्मके कारणरूप विपरीत अवधिज्ञानको विभंग ज्ञान कहा है ॥ १८१ ॥

मन और इन्द्रियोंकी सहायतासे उत्पन्न हुए अभिमुख और नियमित पदार्थके ज्ञानको आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। उसके बहु आदिक बारह प्रकारके पदार्थ और अवग्रह आदिकी अपेक्षा तीनसौ छत्तीस भेद हो जाते हैं ॥ १८२ ॥

मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके अवलम्बनसे तत्संबन्धी दूसरे पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियमसे मतिज्ञानपूर्वक होता है। इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य इस प्रकार दो भेद हैं। उनमें शब्दजन्य श्रुतज्ञान मुख्य है ॥ १८३ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा जिस ज्ञानके विषयकी सीमा हो उसे अवधिज्ञान कहते हैं। इसलिये परमागममें इसको सीमाज्ञान कहा है। इसके भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय इस प्रकार जिनेन्द्रदेवने दो भेद कहे हैं ॥ १८४ ॥

---

१ प्रा. पं. १, १२० । गो. जी. ३०५. विशिष्टस्य अवधिज्ञानस्य भंगः विपर्ययः विभंग इति निरुक्ति-सिद्धार्थस्यैव अनेन प्ररूपितत्वात् । जी. प्र. टी. विरुद्धो वितथो वा अन्यथा वस्तुभंगो वस्तुविकल्पो यस्मिस्तद्विभङ्गं, तच्च तज्ज्ञानं च साकारत्वादिति विभङ्गज्ञानं मिथ्यात्वसहितोऽवधिरित्यर्थः । सू. ५४२ (अभि. रा. को. विभंगणाण.)

२ प्रा. पं. १, १२१ । गो. जी. ३०६. स्थूलवर्तमानयोग्यदेशावस्थितोऽर्थः अभिमुखः, अस्येन्द्रियस्य अयमेवार्थः इत्यवधारितो नियमितः । अभिमुखश्चासौ नियमितश्चासौ अभिमुखनियमितः । तस्यार्थस्य बोधनं अभिनिबोधिकं मतिज्ञानमित्यर्थः । जि. प्र. टी.

३ प्रा. पं. १, १२२ । गो. जी. ३१५. जीवोऽस्तीत्युक्ते जीवोऽस्तीति शब्दज्ञानं श्रोत्रेन्द्रियप्रभवं मतिज्ञानं भवति । ज्ञानेन जीवोऽस्तीति शब्दवाच्यरूपे आत्मास्तित्वे वाच्यवाचकसंबंधसंकेतसंकलनपूर्वकं यद् ज्ञानमुत्पद्यते तदक्षरात्मकं श्रुतज्ञानं भवति, अक्षरात्मकशब्दसमुत्पन्नत्वेन कार्ये कारणोपचारात् । वातशीत-स्पर्शज्ञानेन वातप्रकृतिकस्य तत्स्पर्शे अमनोज्ञज्ञानमनक्षरात्मकं लिंगजं श्रुतज्ञानं भवति, शब्दपूर्वकत्वाभावात् जी. प्र. टी.

४ प्रा. पं. १, १२३ । गो. जी. ३७०. अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधिः । स. सि. १. ९ अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्युभयहेतुसन्निधाने सत्यवधीयतेऽवागदधात्यवाग्धानमात्रं वावधिः । अवधिशब्दोऽव

चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं[1]।
मणपज्जवं ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णर-लोए[2] ॥ १८५ ॥
संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त-सव्व-भाव-विदं।
लोगालोग-वितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं[3] ॥ १८६ ॥

इदानीं गतीन्द्रियकायगुणस्थानेषु मतिश्रुतज्ञानयोरध्वानप्रतिपादनार्थमाह--

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जिसका भूतकालमें चिन्तवन किया है, अथवा जिसका भविष्यकालमें चिन्तवन होगा, अथवा जो अर्धचिन्तित है इत्यादि अनेक भेदरूप दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको जो जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मनुष्यक्षेत्रमें ही होता है ॥ १८५ ॥

जो जीवद्रव्यके शक्तिगत सर्व ज्ञानके अविभाग-प्रतिच्छेदोंके व्यक्त हो जानेके कारण संपूर्ण है, ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके सर्वथा नाश हो जानेके कारण जो अप्रतिहत-शक्ति है इसलिये समग्र है, जो इन्द्रिय और मनकी सहायतासे रहित होनेके कारण केवल है, जो प्रतिपक्षी चार घातिया कर्मोंके नाश हो जानेसे अनुक्रम रहित संपूर्ण पदार्थोंमें प्रवृत्ति करता है इसलिये असपत्न है और जो लोक और अलोकमें अज्ञानरूपी अन्धकारसे रहित होकर प्रकाशमान हो रहा है उसे केवलज्ञान जानना चाहिये ॥ १८६ ॥

अब गति, इन्द्रिय और कायमार्गणान्तर्गत गुणस्थानोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विशेष कथन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

---

पर्यायवचनः, यथाऽधः क्षेपणमवक्षेपणं, इत्यधोगतभूयोद्रव्यविषयो ह्यवधिः। अथवावधिर्मर्यादा, अवधिना प्रतिबद्धं ज्ञानमवधिज्ञानम्। त. रा. वा. १. ९, वा. ३. अवशब्दोऽत्र शब्दार्थः, अव-अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः। अथवा अवधिर्मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः। यद्वा अवधानम्--आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवाधिः। नं. सू. प. ६५.

१ मु. भेयं च।

२ प्रा. पं. १, १२५। गो. जी. ४३८. परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्ययः। स. सि. १. ९. मनः प्रतीत्य प्रतिसंधाय वा ज्ञानं मनःपर्ययः। त. रा. वा. १. ९. वा. ४. स मनःपर्ययो ज्ञेयो मनोज्ञार्था (मन्यन्तेऽर्थाः?) मनोगताः। परेषां स्वमनो वापि तदालम्बनमात्रकम् ॥ त. श्लो. वा. १. ९. ७. परि सर्वतो भावे अवनं अवः। × × अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवः मनःपर्यवः सर्वतो मनोद्रव्यपरिच्छेद इत्यर्थः। अथवा मनःपर्यय इति पाठः, तत्र पर्ययणं पर्ययः, भावेऽल् प्रत्ययः, मनसि मनसो वा पर्ययो मनःपर्ययः सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः। × × अथवा मनः-पर्याय-ज्ञानमिति पाठः तत्र मनांसि मनोद्रव्याणि पर्येति सर्वात्मना परिच्छिनत्ति मनःपर्यायः, पर्याया भेदा धर्मा बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा इत्यर्थः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम्। नं. सू. पृ. ६६.

३ प्रा. पं. १, १२६। गो. जी. ४६०. जीवद्रव्यस्य शक्तिगतसर्वज्ञानाविभागप्रतिच्छेदानां व्यक्तिगतत्वात्संपूर्णम्। मोहनीयवीर्यान्तरायनिरवशेषक्षयादप्रतिहतशक्तियुक्तत्वात् निश्चलत्वाच्च समग्रं। इंद्रियसहायनिरपेक्षत्वात् केवलं। घातिचतुष्टयप्रक्षयात् असपत्नम्। जी. प्र. टी.

मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी एइंदिय-प्पहुडि जाव सासण-सम्माइट्ठि त्ति ॥ ११६ ॥

मिथ्यादृष्टेः द्वेऽप्यज्ञाने भवतां नाम तत्र मिथ्यात्वोदयस्य सत्त्वात् । मिथ्यात्वोदयस्यासत्त्वान्न सासादने तयोः सत्त्वमिति न, मिथ्यात्वं नाम विपरीताभिनिवेशः स च मिथ्यात्वादनन्तानुबन्धिनश्चोत्पद्यते । समस्ति च सासादनस्यानन्तानुबन्ध्युदय इति । कथमेकेन्द्रियाणां श्रुतज्ञानमिति चेत्कथं च न भवति ? श्रोत्राभावान्न शब्दावगतिस्तदभावान्न शब्दार्थावगम इति नैष दोषः, यतो नायमेकान्तोऽस्ति शब्दार्थावबोध एव श्रुतमिति । अपि तु अशब्दरूपादपि लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमपि श्रुतमिति । अमनसां तदपि कथमिति चेन्न, मनोऽन्तरेण वनस्पतिषु हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

एकेन्द्रियसे लेकर सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक मत्यज्ञानी और श्रुताज्ञानी जीव होते हैं ॥ ११६ ॥

शंका--- मिथ्यादृष्टि जीवोंके भले ही दोनों अज्ञान होवें, क्योंकि, वहां पर मिथ्यात्व कर्मका उदय पाया जाता है । परंतु सासादनमें मिथ्यात्वका उदय नहीं पाया जाता है, इसलिये वहां पर वे दोनों ज्ञान अज्ञानरूप नहीं होना चाहिये ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, विपरीत अभिनिवेशको मिथ्यात्व कहते हैं । और वह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन दोनोंके निमित्तसे उत्पन्न होता है । सासादन गुणस्थानवालेके अनन्तानुबन्धीका उदय तो पाया ही जाता है, इसलिये वहां पर भी दोनों अज्ञान संभव हैं ।

शंका--- एकेन्द्रियोंके श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है ?

प्रतिशंका--- कैसे नहीं हो सकता है ?

शंका--- एकेन्द्रियोंके श्रोत्र इन्द्रियका अभाव होनेसे शब्दका ज्ञान नहीं हो सकता है, और शब्दका ज्ञान नहीं होनेसे शब्दके विषयभूत वाच्यका भी ज्ञान नहीं हो सकता है । इसलिये उनके श्रुतज्ञान नहीं होता है यह बात सिद्ध हो जाती है ?

समाधान--- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह कोई एकान्त नहीं है कि शब्दके निमित्तसे होनेवाले पदार्थके ज्ञानको ही श्रुतज्ञान कहते हैं । किन्तु शब्दसे भिन्न रूपादिक लिंगसे भी जो लिंगीका ज्ञान होता है उसे भी श्रुतज्ञान कहते हैं ।

शंका--- मनरहित जीवोंके ऐसा श्रुतज्ञान भी कैसे संभव है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, मनके बिना वनस्पतिकायिक जीवोंके हितमें प्रवृत्ति और अहितसे निवृत्ति देखी जाती है, इसलिये मनसहित जीवोंके ही श्रुतज्ञान माननेमें उनसे अनेकान्त दोष आता है ।

विभङ्गज्ञानाध्वानप्रतिपादनार्थमाह--

विभंगणाणं सण्णि-मिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीणं वा[1] ॥ ११७ ॥

विकलेन्द्रियाणां किमिति तत्र भवतीति चेन्न, तत्र तन्निबन्धनक्षयोपशमाभावात् । सोऽपि तत्र किमिति न सम्भवतीति चेन्न, तद्धेतुभवगुणानामभावात् ।

विभङ्गज्ञाने भवप्रत्यये सति पर्याप्तापर्याप्तावस्थयोरपि तस्य सत्त्वं स्यादित्याशङ्कितशिष्याशङ्कापोहनार्थमाह--

पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ॥ ११८ ॥

अथ स्याद्यदि देवनारकाणां विभङ्गज्ञानं भवनिबन्धनं भवेदपर्याप्तकालेऽपि तेन भवितव्यं तद्धेतोर्भवस्य सत्त्वादिति न, 'सामान्यबोधनानि विशेषेष्ववतिष्ठन्ते' इति

संपादक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विभंगज्ञानके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

विभंगज्ञान संज्ञी मिथ्यादृष्टि जीवोंके तथा सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंके होता है ॥ ११७

शंका-- विकलेन्द्रिय जीवोंके वह क्यों नहीं होता है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, वहां पर विभंगज्ञानका कारणभूत क्षयोपशम नहीं पाया जाता है ।

शंका-- वह क्षयोपशम भी विकलेन्द्रियोंमें क्यों संभव नहीं है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय होता है । परंतु विकलेन्द्रियोंमें ये दोनों प्रकारके कारण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये उनके विभंगज्ञान संभव नहीं है ।

विभंगज्ञानको भवप्रत्यय मान लेने पर पर्याप्त और अपर्याप्त इन दोनों अवस्थाओंमें उसका सद्भाव पाया जाना चाहिये इस प्रकार आशंकाको प्राप्त शिष्यके संदेहके दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

विभंगज्ञान पर्याप्तकोंके ही होता है, अपर्याप्तकोंके नहीं होता है ॥ ११८ ॥

शंका-- यदि देव और नारकियोंके विभंगज्ञान भवप्रत्यय होता है तो अपर्याप्तकालमें भी वह हो सकता है, क्योंकि, अपर्याप्तकालमें भी विभंगज्ञानके कारणरूप भवकी सत्ता पाई जाती है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, 'सामान्य विषयका बोध करानेवाले वाक्य विशेषोंमें रहा

१ ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिः सासादनसम्यग्दृष्टिश्चास्ति । स. सि. १. ८.

न्यायात् नापर्याप्तिविशिष्टं देवनारकत्वं विभङ्गनिबन्धनमपि तु पर्याप्तिविशिष्टमिति। ततो नापर्याप्तकाले तदस्तीति सिद्धम् ।

इदानीं सम्यग्मिथ्यादृष्टिज्ञानप्रतिपादनार्थमाह--

सम्मामिच्छाइट्ठि-ट्ठाणे तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि । आभिणिबोहियणाणं मदि-अण्णाणेण मिस्सयं सुदणाणं सुद-अण्णाणेण मिस्सयं ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सयं । तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा इदि ॥ ११९ ॥

अत्रैकवचननिर्देशः किमिति क्रियत इति चेत् कथं च न क्रियते, यतस्त्रीण्यज्ञानानि ततो नैकवचनं घटत इति न, अज्ञाननिबन्धनमिथ्यात्वस्यैकत्वतोऽज्ञानस्याप्येकत्वाविरोधात् । यथार्थश्रद्धानुविद्धावगमो ज्ञानम्, अयथार्थश्रद्धानुविद्धावगमोऽज्ञानम् । एवं च सति ज्ञानाज्ञानयोर्भिन्नजीवाधिकरणयोर्न मिश्रणं घटत इति चेत् ? सत्यमेतत्, इष्टत्वात् । किन्त्वत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टावेवं मा ग्रहीः यतः सम्यग्मिथ्यात्वं नाम कर्म न

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

करते हैं' इस न्यायके अनुसार अपर्याप्त अवस्थासे युक्त देव और नारक पर्याय विभंगज्ञानका कारण नहीं है। किंतु पर्याप्त अवस्थासे युक्त ही देव और नारक पर्याय विभंगज्ञानका कारण है, इसलिये अपर्याप्त कालमें विभंगज्ञान नहीं होता है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ज्ञानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें आदिके तीनों ही ज्ञान अज्ञानसे मिश्रित होते हैं। आभिनिबोधिकज्ञान मत्यज्ञानसे मिश्रित होता है। श्रुतज्ञान श्रुताज्ञानसे मिश्रित होता है। अवधिज्ञान विभंगज्ञानसे मिश्रित होता है। अथवा तीनों ही ज्ञान अज्ञानसे मिश्रित होते हैं ॥ ११९ ॥

शंका-- सूत्रमें अज्ञान पदका एकवचन निर्देश क्यों किया है ?

प्रतिशंका-- एकवचन निर्देश क्यों नहीं करना चाहिये ?

शंका-- क्योंकि, अज्ञान तीन हैं, इसलिये उनका बहुवचनरूपसे प्रयोग बन जाता है?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, अज्ञानका कारण मिथ्यात्व एक होनेसे अज्ञानको भी एक मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका-- यथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध अवगमको ज्ञान कहते हैं और अयथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध अवगमको अज्ञान कहते हैं। ऐसी हालतमें भिन्न भिन्न जीवोंके आधारसे रहनेवाले ज्ञान और अज्ञानका मिश्रण नहीं बन सकता है ?

समाधान-- यह कहना सत्य है, क्योंकि, हमें यही इष्ट है। किंतु यहां सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें यह अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म मिथ्यात्व

तन्मिथ्यात्वं तस्मादनन्तगुणहीनशक्तेस्तस्य विपरीताभिनिवेशोत्पादसामर्थ्याभावात् । नापि सम्यक्त्वं तस्मादनन्तगुणशक्तेस्तस्य यथार्थश्रद्धया साहचर्याविरोधात् । ततो जात्यन्तरत्वात् सम्यग्मिथ्यात्वं जात्यन्तरीभूतपरिणामस्योत्पादकम् । ततस्तदुदयजनित-परिणामसमवेतबोधो न ज्ञानं यथार्थश्रद्धयाननुविद्धत्वात् । नाप्यज्ञानमयथार्थ-श्रद्धयाऽसङ्गतत्वात् । ततस्तज्ज्ञानं सम्यग्मिथ्यात्वपरिणामवज्जात्यन्तरापन्नमित्येकमपि मिश्रमित्युच्यते । यथायथं प्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमो ज्ञानम् । यथायथमप्रति-भासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमोऽज्ञानम् । जात्यन्तरीभूतप्रत्ययानुविद्धावगमो जात्यन्तरं ज्ञानम्, तदेव मिश्रज्ञानमिति राद्धान्तविदो व्याचक्षते ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

साम्प्रतं ज्ञानानां गुणस्थानाध्वानप्रतिपादनार्थमाह--

आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणमसंजदसम्माइट्ठि-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग-छदुमत्था त्ति[1] ॥ १२० ॥

तो हो नहीं सकता, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी हीन शक्तिवाले सम्यग्मिथ्यात्वमें विपरीता-भिनिवेशको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं पाई जाती है । और न वह सम्यक्त्वरूप ही है, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी अधिक शक्तिवाले यथार्थ श्रद्धाके साथ उसका (सम्यग्मिथ्यात्वका) साहचर्यसंबन्धका विरोध है । इसलिये जात्यन्तर होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व जात्यन्तररूप परिणामोंका ही उत्पादक है । अतः उसके उदयसे उत्पन्न हुए परिणामोंसे युक्त ज्ञान 'ज्ञान' इस संज्ञाको तो प्राप्त ही नहीं सकता है, क्योंकि, उस ज्ञानमें यथार्थ श्रद्धाका अन्वय नहीं पाया जाता है । और उसे अज्ञान भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, वह अयथार्थ श्रद्धाके साथ संपर्क नहीं रखता है । इसलिये वह ज्ञान सम्यग्मिथ्यात्व परिणामकी तरह जात्यन्तररूप अवस्थाको प्राप्त है । अतः एक होते हुए भी मिश्र कहा जाता है ।

यथावस्थित प्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्संबन्धी बोधको ज्ञान कहते हैं । न्यूनता आदि दोषोंसे युक्त यथावस्थित अप्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्संबधी बोधको अज्ञान कहते हैं । और जात्यन्तररूप कारणसे उत्पन्न हुए तत्संबन्धी ज्ञानको जात्यन्तर-ज्ञान कहते हैं । इसीका नाम मिश्रज्ञान है ऐसा सिद्धान्तको जाननेवाले विद्वान पुरुष व्याख्यान करते हैं ।

अब ज्ञानोंका गुणस्थानोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनों असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग छद्मस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२० ॥

---

१ आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानेषु असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति । स. सि. १. ८.

भवतु नाम देवनारकासंयतसम्यग्दृष्टिष्ववधिज्ञानस्य सत्त्वं तस्य तद्भवनिबन्धनत्वात्। देशविरताद्युपरितनानामपि भवतु तत्सत्त्वं तन्निमित्तगुणस्य तत्र सत्त्वात्, न तिर्यङ्मनुष्यासंयतसम्यग्दृष्टिषु तस्य सत्त्वं तन्निबन्धनभवगुणानां तत्रासत्त्वादिति चेन्न, अवधिज्ञाननिबन्धनसम्यक्त्वगुणस्य तत्र सत्त्वात्। सर्वसम्यग्दृष्टिषु तदनुत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेर्नावधिज्ञानं सम्यग्दर्शननिबन्धनमिति चेत्सर्वसंयतेषु तदनुत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेरवधिज्ञानं संयमहेतुकमपि न भवतीति किन्न भवेत्। विशिष्टः संयमस्तद्धेतुरिति न सर्वसंयतानामवधिर्भवतीति चेदत्रापि विशिष्टसम्यक्त्वं तद्धेतुरिति न सर्वेषां तद्भवति को विरोधः स्यात्? औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभेदभिन्नेषु त्रिष्वपि सम्यक्त्वविशेषेष्ववधिज्ञानोत्पत्तेर्व्यभिचारदर्शनान्न तत्तद्विशेषनिबन्धनमपीति चेत्तर्ह्यत्रापि

शंका— देव और नारकीसंबन्धी असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंमें अवधिज्ञानका सद्भाव भले ही रहा आवे, क्योंकि, उनके अवधिज्ञान भवनिमित्तक होता है। उसी प्रकार देशविरति आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें भी अवधिज्ञान रहा आवे, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारणभूत गुणोंका वहां पर सद्भाव पाया जाता है। परंतु असंयतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें उसका सद्भाव नहीं पाया जा सकता है, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण भव और गुण असंयतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें नहीं पाये जाते हैं?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारणरूप सम्यग्दर्शनका असंयतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें सद्भाव पाया जाता है।

शंका— चूंकि संपूर्ण सम्यग्दृष्टियोंमें अवधिज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती है, इससे मालूम पड़ता है कि सम्यग्दर्शन अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण नहीं है?

समाधान— यदि ऐसा है तो संपूर्ण संयतोंमें अवधिज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यथा बन नहीं सकती है, इसलिये संयम भी अवधिज्ञानका कारण नहीं है, ऐसा क्यों न मान लिया जाय?

शंका— विशिष्ट संयम ही अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है, इसलिये समस्त संयतोंके अवधिज्ञान नहीं होता है, किंतु कुछके ही होता है?

समाधान— यदि ऐसा है तो यहां पर भी ऐसा ही मान लेना चाहिये कि असंयतसम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें भी विशिष्ट सम्यक्त्व ही अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है। इसलिये सभी सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्योंमें अवधिज्ञान नहीं होता है, किंतु कुछके ही होता है, ऐसा मान लेनेमें क्या विरोध आता है?

शंका— औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनों ही प्रकारके विशेष सम्यग्दर्शनोंमें अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें व्यभिचार देखा जाता है। इसलिये सम्यग्दर्शनविशेष अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है यह नहीं कहा जा सकता है।

समाधान— यदि ऐसा है तो संयममें भी सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि,

सामायिक-च्छेदोपस्थापन-परिहार-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यात-भेदभिन्नैः पञ्चभिरपि संयमैः देशविरत्या च तस्य व्यभिचारदर्शनान्नावधिज्ञानं संयमविशेषनिबन्धनमपीति समानमेतत् । असंख्यातलोकमात्रसंयमपरिणामेषु केचिद्विशिष्टाः परिणामास्तद्धेतव इति नायं दोषश्चेत्तर्हि सम्यग्दर्शनपरिणामेष्वप्यसंख्येयलोकपरिमाणेषु केचिद्विशिष्टाः सम्यक्त्वपरिणामाः सहकारिकारणव्यपेक्षास्तद्धेतव इति स्थितम् ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मनःपर्ययज्ञानस्वामिप्रतिपादनार्थमाह--

मणपज्जवणाणी पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग-छदुमत्था त्ति[1] ॥ १२१ ॥

पर्यायपर्यायिणोरभेदापेक्षया मनःपर्ययज्ञानस्यैव मनःपर्ययज्ञानिव्यपदेशः । देशविरताद्यधस्तनगुणभूमिस्थितानां किमिति मनःपर्ययज्ञानं न भवेदिति चेन्न, संयमासंयमासंयमत उत्पत्तिविरोधात् । संयममात्रकारणत्वे सर्वसंयतानां किन्न तद्भवेदिति

सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात इन पांच प्रकारके विशेष संयमोंके साथ और देशविरतिके साथ भी अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका व्यभिचार देखा जाता है, इसलिये अवधिज्ञानकी उत्पत्ति संयम-विशेषके निमित्तसे होती है यह भी तो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और संयम इन दोनोंको अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त मानने पर आक्षेप और परिहार समान हैं ।

शंका-- असंख्यात लोकप्रमाण संयमरूप परिणामोंमें कितने ही विशेष जातिके परिणाम अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण होते हैं, इसलिये पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ?

समाधान-- यदि ऐसा है तो असंख्यात लोकप्रमाण सम्यग्दर्शनरूप परिणामोंमें दूसरे सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे युक्त होते हुए कितने ही विशेष जातिके सम्यक्त्वरूप परिणाम अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हो जाते हैं यह बात निश्चित हो जाती है ।

अब मनःपर्ययज्ञानके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं--

मनःपर्ययज्ञानी जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२१ ॥

पर्याय और पर्यायीमें अभेदकी अपेक्षासे मनःपर्ययज्ञानका ही मनःपर्ययज्ञानीरूपसे उल्लेख किया है ।

शंका-- देशविरति आदि नीचेके गुणस्थानवर्ती जीवोंके मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, संयमासंयम और असंयमके साथ मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है ।

---

१ मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तसंयतादयः क्षीणकषायान्ताः सन्ति । स. सि. १. ८.

चेदभविष्यद्यदि संयम एक एव तदुत्पत्तेः कारणतामगमिष्यत् । अपि त्वन्येऽपि[1] तद्धेतवः सन्ति तद्वैकल्यान्न सर्वसंयतानां तदुत्पद्यते । केऽन्ये तद्धेतव इति चेद्विशिष्ट-द्रव्यक्षेत्रकालादयः ।

केवलज्ञानाधिपतिगुणभूमिप्रतिपादनार्थमाह—

केवलणाणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिध्दा चेदि[2]॥ १२२ ॥

अथ स्यान्नार्हतः केवलज्ञानमस्ति तत्र नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमजनितमनसः

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सत्त्वात्, न, प्रक्षीणसमस्तावरणे भगवत्यर्हति ज्ञानावरणक्षयोपशमाभावात्तत्कार्यस्य मनसोऽसत्त्वात् । न वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितशक्त्यस्तित्वद्वारेण तत्सत्त्वं प्रक्षीण-

---

शंका— यदि संयममात्र मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है तो समस्त संयमियोंके मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है ?

समाधान— यदि केवल संयम ही मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण होता तो ऐसा भी होता । किंतु अन्य भी मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिके कारण हैं, इसलिये उन दूसरे हेतुओंके न रहनेसे समस्त संयतोंके मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

शंका— वे दूसरे कौनसे कारण हैं ?

समाधान— विशेष जातिके द्रव्य, क्षेत्र और कालादि अन्य कारण हैं । जिनके विना सभी संयमियोंके मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

अब केवलज्ञानके स्वामीके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

केवलज्ञानी जीव सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन तीन स्थानोंमें होते हैं ॥ १२२ ॥

शंका— अरिहंत परमेष्ठीके केवलज्ञान नहीं है, क्योंकि, यहां पर नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए मनका सद्भाव पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिनके संपूर्ण आवरणकर्म नाशको प्राप्त हो गये हैं ऐसे अरिहंत परमेष्ठीमें ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, इसलिये क्षयोपशमके कार्यरूप मन भी उनके नहीं पाया जाता है । उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई शक्तिकी अपेक्षा भी वहां पर मनका सद्भाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, जिनके वीर्यान्तराय कर्मका क्षय पाया जाता है ऐसे जीवोंके वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई शक्तिके सद्भाव माननेमें विरोध आता है ।

---

१ मु. अप्यन्येऽपि तु । २ केवलज्ञाने सयोगोऽयोगश्च । स. सि. १. ८.

वीर्यान्तरायस्य वीर्यान्तरायजनितशक्त्यस्तित्वविरोधात् । कथं पुनः स सयोग[1] इति चेन्न, प्रथमचतुर्थभाषोत्पत्तिनिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य सत्त्वापेक्षया तस्य सयोगत्वाविरोधात् । तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात् । अक्रमज्ञानात्कथं क्रमवतां वचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न, घटविषयाक्रमज्ञानसमवेतकुम्भकाराद्घटस्य क्रमेणोत्पत्त्युपलम्भात् । मनोयोगाभावे सूत्रेण सह विरोधः स्यादिति चेन्न, मनःकार्यप्रथमचतुर्थवचसोः सत्त्वापेक्षयोपचारेण तत्सत्त्वोपदेशात् । जीवप्रदेशपरिस्पन्दहेतुनोकर्मजनितशक्त्यस्तित्वापेक्षया वा तत्सत्त्वान्न विरोधः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संयममार्गणाप्रतिपादनार्थमाह---

संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाइय-छेदोवट्ठावण-सुद्धि-संजदा परिहार-सुद्धि-संजदा सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि ॥१२३॥

शंका--- फिर अरिहंत परमेष्ठीको सयोगी कैसे माना जाय ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, प्रथम (सत्य) और चतुर्थ (अनुभय) भाषाकी उत्पत्तिके निमित्तभूत आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द वहां पर पाया जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे अरिहंत परमेष्ठीके सयोगी होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका--- अरिहंत परमेष्ठीमें मनका अभाव होने पर मनके कार्यरूप वचनका सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, वचन ज्ञानके कार्य हैं, मनके नहीं ।

शंका--- अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, घटविषयक अक्रम ज्ञानसे युक्त कुंभकारद्वारा क्रमसे घटकी उत्पत्ति देखी जाती है । इसलिये अक्रमवर्ती ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका--- सयोगिकेवलीके मनोयोगका अभाव मानने पर 'सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति' इस पूर्वोक्त सूत्रके साथ विरोध आ जायगा ?

समाधान--- नहीं, क्योंकि, मनके कार्यरूप प्रथम और चतुर्थ भाषाके सद्भावकी अपेक्षा उपचारसे मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दके कारणरूप मनोवर्गणारूप नोकर्मसे उत्पन्न हुई शक्तिके अस्तित्वकी अपेक्षा सयोगिकेवलीमें मनका सद्भाव पाया जाता है ऐसा मान लेनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है ।

अब संयममार्गणाके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं---

संयममार्गणाके अनुवादसे सामायिकशुद्धिसंयत, छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत, परिहार-

१ मु. पुनः सयोग ।

अत्राप्यभेदापेक्षया पर्यायस्य पर्यायिव्यपदेशः । सम् सम्यक् सम्यग्दर्शनज्ञानानुसारेण यताः बहिरङ्गान्तरङ्गास्रवेभ्यो विरताः संयताः । सर्वसावद्ययोगात् विरतोऽस्मीति सकलसावद्ययोगविरतिः सामायिकशुद्धिसंयमो[1] द्रव्यार्थिकत्वात् । एवंविधैकव्रतो मिथ्यादृष्टिः किन्न स्यादिति चेन्न, आक्षिप्ताशेषविशेषसामान्यार्थिनो नयस्य सम्यग्दृष्टित्वाविरोधात् । आक्षिप्ताशेषविशेषरूपमिदं[2] सामान्यमिति कुतोऽवसीयत इति चेत्सर्वसावद्ययोगोपादानात् । नह्येकस्मिन् सर्वशब्दः प्रवर्तते विरोधात् । स्वान्तर्भाविताशेषसंयमविशेषैकयमः सामायिकशुद्धिसंयत[3] इति यावत् । तस्यैकस्य

शुद्धिसंयत, सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत, यथाख्यात-विहार-शुद्धि-संयत ये पांच प्रकारके संयत तथा संयतासंयत और असंयत जीव होते हैं ॥ १२३ ॥

यहां पर भी अभेदकी अपेक्षासे पर्यायका पर्यायीरूपसे कथन किया है । 'सम्' उपसर्ग सम्यक् अर्थका वाची है, इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक 'यताः' अर्थात् जो बहिरंग और अन्तरंग आश्रवोंसे विरत हैं उन्हें संयत कहते हैं ।

'मैं सभी प्रकारके सावद्ययोगसे विरत हूं' इस प्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सकल सावद्ययोगके त्यागको सामायिक-शुद्धि-संयम कहते हैं ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका— इस प्रकार एक व्रतका नियमवाला जीव मिथ्यादृष्टि क्यों नहीं हो जायगा?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिसमें संपूर्ण चारित्रके भेदोंका संग्रह होता है, ऐसे सामान्यग्राही द्रव्यार्थिक नयको समीचीन दृष्टि माननेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— यह सामान्य संयम अपने संपूर्ण भेदोंका संग्रह करनेवाला है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान— 'सर्वसावद्ययोग' पदके ग्रहण करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोंका संग्रह कर लिया गया है, यह बात जानी जाती है । यदि यहां पर संयमके किसी एक भेदकी ही मुख्यता होती तो 'सर्व' शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता था, क्योंकि, ऐसे स्थल पर 'सर्व' शब्दके प्रयोग करनेमें विरोध आता है ।

---

१ रागद्दोसविरहिओ समो त्ति अयणं अयो त्ति गमणं ति । समगमणं ति समाओ स एव सामाइयं नाम ।। अहवा भवं समाए निव्वत्तं तेणं तम्मयं वावि । जं तप्पओयणं वा तेण व सामाइयं नेयं ।। अहवा समाइं सम्मत्तनाणचरणाइं तेसु तेहिं वा । अयणं अओ समाओ स एव सामाइयं नाम ।। अहवा समस्स आओ गुणाण लाभो त्ति जो समाओ सो । अहवा समाणमाओ नेओ सामाइयं नाम ।। अहवा सामं मित्ती तत्थ अओ (गमणं) तेण होइ सामाओ । अहवा सामस्साओ लाभो सामाइयं णेयं ।। सम्ममओ वा समओ सामाइयमुभयविद्धिभावाओ । अहवा सम्मस्स आओ लाभो सामाइयं होइ । अहवा निरुत्तविहिणा सामं सम्मं समं च जं तस्स । इकमप्पए पवेसणमेयं सामाइयं नेयं । किं पुण तं सामइयं सव्वसावज्जजोगविरइ त्ति ॥

वि. भा. ४२२०-४२२७.

२ मु. शेषरूपमिदं ।   ३ मु. शुद्धिसंयम ।

व्रतस्य छेदेन द्वित्र्यादिभेदेनोपस्थापनं व्रतसमारोपणं छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः। सकलव्रतानामेकत्वमापाद्य एकयमोपादानाद् द्रव्यार्थिकनयः सामायिकशुद्धिसंयमः। तदेवैकं व्रतं पञ्चधा बहुधा वा विपाट्य धारणात् पर्यायार्थिकनयः छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः[1]। निशितबुद्धिजनानुग्रहार्थं द्रव्यार्थिकनयदेशना[2], मन्दधियामनुग्रहार्थं पर्यायार्थिकनयदेशना[3]। ततो नानयोः संयमयोरनुष्ठानकृतो विशेषोऽस्तीति। द्वितयदेशनानुगृहीत[4] एक एव संयम इति चेन्नैष दोषः, इष्टत्वात्। अनेनैवाभिप्रायेण सूत्रे पृथक् न शुद्धिसंयतग्रहणं कृतम्।

परिहारप्रधानः शुद्धिसंयतः परिहारशुद्धिसंयतः। त्रिंशद्वर्षाणि यथेच्छया भोगमनुभूय सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा संयममादाय द्रव्यक्षेत्रकालभावगतपरिमितापरिमितप्रत्याख्यानप्रतिपादकप्रत्याख्यानपूर्वमहार्णवं सम्यगधिगम्य व्यपगतसकल-

---

इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि जिसने संपूर्ण संयमके भेदोंको अपने अन्तर्गत कर लिया है ऐसे अभेदरूपसे एक यमको धारण करनेवाला जीव सामायिक-शुद्धि-संयत कहलाता है।

उस एक व्रतका छेद अर्थात् दो, तीन आदिके भेदसे उपस्थापन करनेको अर्थात् व्रतोंके आरोपण करनेको छेदोपस्थापना-शुद्धि-संयम कहते हैं। संपूर्ण व्रतोंको सामान्यकी अपेक्षा एक मानकर एक यमको ग्रहण करनेवाला होनेसे सामायिक-शुद्धि-संयम द्रव्यार्थिकनयरूप है। और उसी एक व्रतको पांच अथवा अनेक प्रकारके भेद करके धारण कनेवाला होनेसे छेदोपस्थापना-शुद्धि-संयम पर्यायार्थिकनयरूप है। यहां पर तीक्ष्णबुद्धि मनुष्योंके अनुग्रहके लिये द्रव्यार्थिक नयका उपदेश दिया गया है। और मन्दबुद्धि प्राणियोंका अनुग्रह करनेके लिये पर्यायार्थिक नयका उपदेश दिया गया हैं। इसलिये इन दोनों संयमोंमें अनुष्ठानकृत कोई विशेषता नहीं है।

शंका—तब तो उपदेशकी अपेक्षा संयमको भले ही दो प्रकारका कह लिया जावे, पर वास्तवमें तो वह एक ही है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह कथन हमें इष्ट ही है। और इसी अभिप्रायसे सूत्रमें स्वतन्त्ररूपसे (सामायिक पदके साथ) 'शुद्धिसंयत' पदका ग्रहण नहीं किया है।

जिसके (हिंसाका) परिहार ही प्रधान है ऐसे शुद्धिप्राप्त संयतोंको परिहार-शुद्धि-संयत कहते हैं। तीस वर्षतक अपनी इच्छानुसार भोगोंको भोगकर सामान्यरूपसे अर्थात् सामायिक संयमको और विशेषरूपसे अर्थात् छेदोपस्थापना संयमको धारण कर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार परिमित या अपरिमित प्रत्याख्यानके प्रतिपादन करनेवाले प्रत्याख्यान पूर्वरूपी महार्णवमें अच्छी तरह प्रवेश करके जिसका संपूर्ण संशय दूर हो गया है और जिसने

---

१ छेदेन पूर्वपर्यायनिरोधेन उपस्थापनमारोपणं महाव्रतानां यत्र तच्छेदोपस्थापनम्। × × छेत्तूण तु परियागं पोराणं जो ठविति अप्पाणं। धम्मम्मि पंचजामे छेओवट्ठावणे स खलु। पं. भा. (छेओवट्ठावण. अभि. रा. को.) २ मु. नयादेशना। ३ मु. नयादेशना। ४ मु. देशेना।

संशयस्तपोविशेषात्समुत्पन्नपरिहारर्द्धिस्तीर्थंकरपादमूले परिहारशुद्धिसंयममादत्ते[1]। एवमादाय स्थानगमनचङ्क्रमणाशनपानासनादिषु व्यापारेष्वशेषप्राणिपरिहरणदक्षः[2] परिहारशुद्धिसंयतो नाम।

साम्परायः कषायः, सूक्ष्मः साम्परायो येषां ते सूक्ष्मसांपरायाः। शुद्धाश्च ते संयताश्च शुद्धसंयताः। सूक्ष्मसाम्परायाश्च ते शुद्धिसंयताश्च सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयताः। त एव द्विधोपात्तसंयमा यदा सूक्ष्मीकृतकषायाः भवन्ति तदा ते सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयता इत्युच्यन्त इति यावत्।

यथाख्यातो यथाप्रतिपादितः विहारः कषायाभावरूपमनुष्ठानम्। यथाख्यातो विहारो येषां ते यथाख्यातविहाराः। यथाख्यातविहाराश्च ते शुद्धिसंयताश्च यथाख्यातविहारशुद्धिसंयताः[3]। सुगममन्यत्। मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

संयमानुवादेनासंयतानां संयतासंयतानां च न ग्रहणं प्राप्नुयादिति चेन्न,

तपोविशेषसे परिहार ऋद्धिको प्राप्त कर लिया है ऐसा जीव तीर्थंकरके पादमूलमें परिहार-शुद्धि-संयमको ग्रहण करता है। इस प्रकार संयमको धारण करके जो खड़े होना, गमन करना यहां वहां विहार करना, भोजन करना, पान करना और बैठना आदि संपूर्ण व्यापारोंमें प्राणियोंकी हिंसाके परिहारमें दक्ष हो जाता है उसे परिहार-शुद्धि-संयत कहते हैं।

सांपराय कषायको कहते हैं। जिनकी कषाय सूक्ष्म हो गई है उन्हें सूक्ष्मसांपराय कहते हैं। जो संयत विशुद्धिको प्राप्त हो गये हैं उन्हें शुद्धिसंयत कहते हैं। जो सूक्ष्मकषाय वाले होते हुए शुद्धिप्राप्त संयत हैं उन्हें सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सामायिक या छेदोपस्थापना संयमको धारण करनेवाले साधु जब अत्यन्त सूक्ष्मकषायवाले हो जाते हैं तब वे सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत कहे जाते हैं।

परमागममें विहार अर्थात् कषायोंके अभावरूप अनुष्ठानका जैसा प्रतिपादन किया गया है तदनुकूल विहार जिनके पाया जाता है उन्हें यथाख्यातविहार कहते हैं। जो यथाख्यातविहारवाले होते हुए शुद्धिप्राप्त संयत हैं वे यथाख्यातविहार-शुद्धि-संयत कहलाते हैं। शेष कथन सुगम है।

शंका— संयम मार्गणाके अनुवादसे संयतोंमें संयतासंयत और असंयतोंका ग्रहण नहीं हो सकता है ?

१ तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले। पच्चक्खाणं पढिदो संझूणदुगाउयविहारो ॥ गो. जी. ४७३.

२ परिहारर्धिसमेतः षड्जीवनिकायसंकुले विहरन्। पयसेव पद्मपत्रं न लिप्यते पापनिवहेन। गो. जी. ४७३. जी. प्र. टी. उद्धृतम्।

३ अहसद्दो जाहत्थे आङोऽभिहीए कहियमक्खायं। चरणमकसायमुदितं तमहक्खायं जहक्खायं ॥ तं दुविगप्पं छउमत्थकेवलिविहाणओ पुणेक्केक्कं। खयसमजसयोगाजोगिकेवलिविहाणओ दुविहं। वि. भा. १२७९.

आम्रतरुप्रधानवनान्तस्थनिम्बानामपि आम्रवनव्यपदेशदर्शनतोऽनेकान्तात् । उक्तं च–

संगहिय-सयल-संजममेय-जममणुत्तरं दुरवगम्मं ।
जीवो समुव्वहंतो सामाइय-संजदो होई[1] ॥ १८७ ॥
छेत्तूण य परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं ।
पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावओ जीवो[2] ॥ १८८ ॥
पंच-समिदो ति-गुत्तो परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं ।
पंच-जमेय-जमो वा परिहारो संजदो सो हु[3] ॥ १८९ ॥

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिस वनमें आम्रवृक्षोंकी प्रधानता है उसमें रहनेवाले नीमके वृक्षोंकी भी 'आम्रवन' ऐसी संज्ञा देखनेमें आती है। अतएव अनेकान्तका आश्रय करनेसे संयतासंयत और असंयतोंका भी संयम मार्गणामें ग्रहण किया है। कहा भी है—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जिसमें समस्त संयमोंका संग्रह कर लिया गया है ऐसे लोकोत्तर और दुरधिगम्य अभेदरूप एक यमको धारण करनेवाला जीव सामायिकसंयत होता है ॥ १८७ ॥

जो पुरानी सावद्यव्यापाररूप पर्यायको छेदकर पांच यमरूप धर्ममें अपनेको स्थापित करता है वह जीव छेदोपस्थापक संयमी कहलाता है ॥ १८८ ॥

जो पांच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त होता हुआ सदा ही सावद्ययोगका परिहार करता है तथा पांच यमरूप छेदोपस्थापना संयमको और एक यमरूप सामायिकसंयमको धारण करता है वह परिहार-शुद्धि-संयत कहलाता है ॥ १८९ ॥

---

१ प्रा. पं. १, १२९ । गो. जी. ४७०.

२ प्रा. पं. १, १३० । गो. जी. ४७१. छेदेन प्रायश्चित्ताचरणेन उपस्थापनं यस्य स छेदोपस्थापन इति निरुक्तेः । अथवा प्रायश्चित्तेन स्वकृतदोषपरिहाराय पूर्वकृततपस्तद्दोषानुसारेण छित्वा आत्मानं तन्निरवद्य-संयमे स्थापयति स छेदोपस्थापक-संयतः, स्वतपश्छेदे सति उपस्थापनं यस्य स छेदोपस्थापन इत्यधिकरण-व्युत्पत्तेः । जी. प्र. टी.

३ प्रा. पं. १, १३१ । गो. जी. ४७२. परिहारकप्पं पवक्खाम्मि परिहरंति जहा विऊ । आदिमज्झव-साणेसु आणुपुव्विं जहक्कमं ॥ ३६९ ॥ सत्तावीसं जहण्णेणं उक्कोसेण सहस्ससो ॥ निग्गंथसूरा भगवंतो सव्वग्गोणं वियाहिया ॥ ३७२ ॥ सयग्गलो य उक्कोसा जहण्णेण तओ गणा । गणो य णवओ वुत्तो एमेता पडिवत्तिओ ॥ ३७३ ॥ एगं कप्पट्ठियं कुज्जा चत्तारि परिहारिए । अणुपरिहारिगा चेव चउरो तेसिं तु ठावए ॥ ३७४ ॥ ण य तेसिं जायती विग्घं जा मासा दस अट्ठ य । ण वेयणा ण वातंका णेव अण्णे उवद्दवा ॥ ३७५ ॥ अट्ठारससु पुण्णेसु होज्ज एते उवद्दवा । ऊणिए ऊणिए यावि गणमेरा इमा भवे ॥ ३७६ ॥ पडिवन्नजिणिंदस्स पादमूलम्मि जे विऊ । ठावयंतिआ ते अण्णे ण उ ठावितठावगा ॥ ३८३ ॥ सव्वे चरित्तमंता य दंसणे परिनिट्ठिया । णवपुव्विया जहण्णेणं उक्कोसं दसपुव्विया ॥ ३८४ ॥ पंचविहे ववहारे कप्पे ते दुविहम्मि य । दसविहे य पच्छित्ते सव्वे वि परिनिट्ठिया ॥ ३८५ ॥ पडिपुच्छं वायं णं मोत्तूणं णत्थि संकहा । आलावो अत्तणिद्देसो परिहारस्स कारणे ॥ ३९६ ॥ वारस दसट्ठ दस अट्ठ छच्चट्ठ छ चउरो य उक्कोसं । मज्झिम जहण्णगा ऊ वासासिसिरगिम्हे उ ॥ ३९४ ॥ आयंबिलवारसगं पत्तेयं परिहारगा परिहरंति ।

अणुलोभं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवओ वा ।
सो सुहुम-सांपराओ जहक्खादेणूणओ किं पि[1] ॥ १९० ॥
उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्हि मोहणीयम्हि ।
छदुमत्थो व जिणो वा जहखादो संजदो सो दु[2] ॥ १९१ ॥
पंच-ति-चउव्विहेहि अणु-गुण-सिक्खा-वएहि संजुत्ता ।
वुच्चंति देस-विरया सम्माइट्ठी ज्झारिय-कम्मा[3] ॥ १९२ ॥
दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सचित्त-राइभत्ते य ।
बम्हारंभ-परिग्गह-अणुमण-उद्दिट्ठ देसविरदेदे[4] ॥ १९३ ॥
जीवा चोद्दस-भेया इंदिय-विसया तहट्ठवीसं तु ।
जे तेसु णेव विरदा असंजदा ते मुणेयव्वा[5] ॥ १९४ ॥

चाहे उपशमश्रेणीका आरोहण करनेवाला हो अथवा क्षपकश्रेणीका आरोहण करनेवाला हो, परंतु जो जीव सूक्ष्म लोभका अनुभव करता है उसे सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत कहते हैं। यह संयत यथाख्यात संयमसे कुछ कम संयमको धारण करनेवाला होता है ॥ १९० ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अशुभ मोहनीय कर्मके उपशान्त अथवा क्षय हो जाने पर ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानवर्ती छद्मस्थ और तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती जिन यथाख्यात-शुद्धि-संयत होते हैं ॥ १९१ ॥

जो पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंसे संयुक्त होते हुए असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा करते हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव देशविरत कहे जाते हैं ॥ १९२ ॥

दर्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तविरत, ब्रम्हचारी, आरंभविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये देशविरतके ग्यारह भेद हैं ॥१९३॥

जीवसमास चौदह प्रकारके होते हैं और इन्द्रिय तथा मनके विषय अठ्ठाईस प्रकारके होते हैं। जो जीव इनसे विरत नहीं हैं उन्हें असंयत जानना चाहिये ॥ १९४ ॥

अभिगहितएसणाए पंचण्ह वि एगो संभोगो ॥ ३९५ ॥ परिहारिओ छम्मासे अणुपरिहारिओ वि छम्मासा । कप्पट्ठितो वि छम्मासे तेए अट्ठारस उ मासे ॥ ३९६ ॥ गएहि छहि मासेहि निव्विट्ठा य भवंति ते । ततो पच्छा य ववहारं पट्ठवंति अणुपरिहारिया ॥ ३९८ ॥ गएहि छहि मासेहि निव्विट्ठा य भवंति ते । वहइ कप्पट्ठिओ पच्छा परिहार तहाविधं ॥ ३९९ ॥ अट्ठारसहि मासेहि कप्पो होंति समाणितो । मूलट्ठवणाए समं छम्मासा उ अणूणगा ॥ ४०० ॥ बृ. ६ उ. (अभि. रा. को. परिहारविसुद्धिय.)

१ प्रा. पं. १,१३२ । गो. जी. ४७४　　२ प्रा. पं. १,१३३ । गो. जी. ४७५
३ प्रा. पं. १,१३५ । गो. जी. ४७६
४ प्रा. पं. १,१३६ । गाथेयं पूर्वमपि ७४ गाथाङ्केन आगता ।
५ प्रा. पं. १,१३७ । गो. जी. ४७८

संयतानां गुणस्थान[1]संख्यानिरूपणार्थमाह—

संजदा पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति[2] ॥ १२४ ॥

अथ स्याद् बुद्धिपूर्विका सावद्यविरतिः संयमः, अन्यथा काष्ठादिष्वपि संयमप्रसङ्गात्। न च केवलिषु तथाभूता निवृत्तिरस्ति ततस्तत्र संयमो दुर्घट इति नैष दोषः, अघातिचतुष्कविनाशापेक्षया प्रतिसमयमसंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरापेक्षया च सकलपापक्रियानिरोधलक्षणपारिणामिकगुणाविर्भावापेक्षया च तत्र[3] संयमोपचारात्। अथवा प्रवृत्त्यभावापेक्षया मुख्य संयमोऽस्ति[4]। न काष्ठेन व्यभिचारस्तत्र प्रवृत्त्यभावतस्तन्निवृत्त्यनुपपत्तेः। सुगममन्यत्।

द्रव्यपर्यायार्थिकनयद्वयनिबन्धनसंयमगुणप्रतिपादनार्थमाह—

सामाइय-च्छेदोवट्ठावण-सुध्दि-संजदा पमत्तसंजद-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥ १२५ ॥

अब संयतोंमें गुणस्थानोंकी संख्याके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयत जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२४ ॥

शंका—बुद्धिपूर्वक सावद्ययोगके त्यागको संयम कहना तो ठीक है। यदि ऐसा न माना जाय तो काष्ठ आदिमें भी संयमका प्रसंग आजायगा। किंतु केवलीमें बुद्धिपूर्वक सावद्ययोगकी निवृत्ति तो पाई नहीं जाती है इसलिये उनमें संयमका होना दुर्घट ही है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, चार अघातिया कर्मोंके विनाश करनेकी अपेक्षा और समय समयमें असंख्यातगुणी श्रेणीरूपसे कर्मनिर्जरा करनेकी अपेक्षा संपूर्ण पापक्रियाके निरोधस्वरूप पारिणामिक गुण प्रगट हो जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे वहां संयमका उपचार किया जाता है। अतः वहां पर संयमका होना दुर्घट नहीं है। अथवा प्रवृत्तिके अभावकी अपेक्षा वहां पर मुख्य संयम है। इसप्रकार जिनेन्द्रमें प्रवृत्यभावसे मुख्य संयमकी सिद्धि करने पर काष्ठसे व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, काष्ठमें प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है, तब उसकी निवृत्ति भी नहीं बन सकती है। शेष कथन सुगम हैं।

अब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयोंके निमित्तसे माने गये संयमके गुणस्थान प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं।

सामायिक और छेदोपस्थापनारूप शुद्धिको प्राप्त संयत जीव प्रमत्तसंयतसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२५ ॥

---

१ मु. स्थानानां संख्या।   २ संयमानुवादेन संयताः प्रमत्तादयोऽयोगकेवल्यन्ताः। स. सि. १. ८.

३ मु. पेक्षया न, तत्र।

४ सामायिकच्छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयताः प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिस्थानान्ताः। स. सि. १. ८.

सुगमत्वादत्र न किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति ।

द्वितीयसंयमस्याध्वाननिरूपणार्थमाह--

परिहार-सुद्धि-संजदा दोसु ट्ठाणेसु पमत्तसंजद-ट्ठाणे अप्पमत्त-संजद-ट्ठाणे[1] ॥ १२६ ॥

उपरिष्टात्किमित्ययं संयमो न भवेदिति चेन्न, ध्यानामृतसागरान्तर्निमग्नात्मनां वाचंयमानामुपसंहृतगमनागमनादिकायव्यापाराणां परिहारानुपपत्तेः । प्रवृत्तः परिहरति नाप्रवृत्तस्ततो नोपरिष्टात्स संयमोऽस्ति[2] । परिहारशुद्धिसंयतः किमु एकयम उत पंचयम इति ? किंचातो यद्येकयमः सामायिकेऽन्तर्भवति । अथ यदि पंचयमः छेदोपस्थापनेऽन्तर्भवति, न च संयममादधानस्य पुरुषस्य द्रव्यपर्यायार्थिकाभ्यां व्यतिरिक्तस्यास्ति सम्भवस्ततो न परिहारसंयमोऽस्तीति ? न, परिहारर्द्ध्यतिशयोत्पत्त्यपेक्षया ताभ्यामस्य कथञ्चिद्भेदात् । तद्रूपापरित्यागेनैव परिहारर्द्धिपर्यायेण परिणत-

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां कुछ विशेष कहने योग्य नहीं है ।

अब दूसरे संयमके गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

परिहार-शुद्धि-संयत प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ १२६ ॥

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका-- ऊपरके आठवें आदि गुणस्थानोंमें यह संयम क्यों नहीं होता है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, जिनकी आत्माएं ध्यानरूपी अमृतके सागरमें निमग्न है, जो वचन-यम (मौन) का पालन करते हैं और जिन्होंने आने जानेरूप संपूर्ण शरीरसंबन्धी व्यापार संकुचित कर लिया है ऐसे जीवोंके शुभाशुभ क्रियाओंका परिहार बन ही नहीं सकता है। क्योंकि, गमनागमन आदि क्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेवाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृत्ति नहीं करनेवाला नहीं । इसलिये ऊपरके आठवें आदि ध्यान अवस्थाको प्राप्त गुणस्थानोंमें वह (परिहार-शुद्धि-संयम) नहीं है ।

शंका-- परिहार-शुद्धि-संयम क्या एक यमरूप है या पांच यमरूप ? इनमेंसे यदि एक यमरूप है तो उसका सामायिकमें अन्तर्भाव होना चाहिये और यदि पांच यमरूप है तो छेदोपस्थापनामें अन्तर्भाव हो जाना चाहिये। संयमको धारण करनेवाले पुरुषके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा इन दोनों संयमोंसे भिन्न तीसरे संयमकी संभावना तो है नहीं, इसलिये परिहार-शुद्धि-संयम नहीं बन सकता है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, परिहार ऋद्धिरूप अतिशयकी उत्पत्तिकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थानासे परिहार-शुद्धि-संयमका कथंचित् भेद है ।

शंका-- सामायिक और छेदोपस्थापनारूप अवस्थाका त्याग न करते हुए ही परिहार ऋद्धिरूप पर्यायसे यह जीव परिणत होता है, इसलिये सामायिक और छेदोपस्थापनासे भिन्न

१ परिहारशुद्धिसंयताः प्रमत्ताप्रमत्ताश्च । स. सि. १. ८.

२ मु. ष्टात्संयमोऽस्ति ।

त्वान्न ताभ्यामन्योऽयं संयम इति चेन्न, प्रागविद्यमानपरिहारर्द्ध्यपेक्षया ताभ्यामस्य भेदात् । ततः स्थितमेतत्ताभ्यामन्यः परिहारसंयम इति । परिहारर्द्धेरुपरिष्टादपि सत्त्वात्तत्रास्यास्तु सत्त्वमिति चेन्न, तत्कार्यस्य परिहरणलक्षणस्यासत्त्वतस्तत्र तदभावात्।

तृतीयसंयमस्याध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

सुहुम-सांपराइय-सुध्दि-संजदा एक्कम्मि चेव सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजद-ट्ठाणे ॥ १२७ ॥

सूक्ष्मसाम्परायाः किमु एकयमा उत पञ्चयमा इति ? किं चातो, यद्येकयमाः पञ्चयमान्न मुक्तिरुपशमश्रेण्यारोहणं वा, सूक्ष्मसाम्परायगुणप्राप्तिमन्तरेण तदुभयाभावात् । अथ पञ्चयमाः, एकयमानां पूर्वोक्तदोषौ समाढौकेते । अथोभययमाः,

यह संयम नहीं हो सकता है ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, पहले अविद्यमान परंतु पीछेसे उत्पन्न हुई परिहार ऋद्धिकी अपेक्षा उन दोनों संयमोंसे इसका भेद है, अतः यह बात निश्चित हो जाती है कि सामायिक और छेदोपस्थापनासे परिहार-शुद्धि-संयम भिन्न ही है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

शंका—— परिहार ऋद्धिकी आगेके आठवें आदि गुणस्थानोंमें भी सत्ता पाई जाती है, अतएव वहां पर इस संयमका सद्भाव मान लेना चाहिये ?

समाधान—— नहीं, क्योंकि, यद्यपि आठवें आदि गुणस्थानोंमें परिहार ऋद्धि पाई जाती है परंतु वहां पर परिहार करनेरूप उसका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये आठवें आदि गुणस्थानोंमें परिहार-शुद्धि-संयमका अभाव कहा गया है ।

अब तीसरे संयमके गुणस्थानका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत जीव एक सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १२७ ॥

शंका—— सूक्ष्मसांपरायसंयत जीव क्या एक यमरूप है अथवा पांच यमरूप ? इनमेंसे यदि एक यमरूप हैं तो पंचयमरूप छेदोपस्थापनासंयमसे मुक्ति अथवा उपशमश्रेणीका आरोहण नहीं बन सकता है, क्योंकि, सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानकी प्राप्तिके विना मुक्तिकी प्राप्ति और उपशमश्रेणीका आरोहण नहीं बन सकेगा ? यदि सूक्ष्मसांपराय संयत पांच यमरूप है तो एक यमरूप सामायिक संयमको धारण करनेवाले जीवोंके पूर्वोक्त दोनों दोष प्राप्त होते हैं ? यदि छेदोपस्थापनासंयतोंको उभय यमरूप मानते हैं तो एक यम और पंचयमके भेदसे सूक्ष्मसांपरायसंयतोंके दो भेद हो जाते हैं ?

१ सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयताः एकस्मिन्नेव सूक्ष्मसाम्परायस्थाने । स. सि. १. ८.

एकयमपञ्चयमभेदेन सूक्ष्मसाम्परायाणां द्वैविध्यमापतेदिति । नाद्यौ विकल्पौ ? अनभ्युपगमात् । न तृतीयविकल्पोक्तदोषः सम्भवति, पञ्चैकयमभेदेन संयमभेदाभावात् । यद्येकयमपञ्चयमौ संयमस्य न्यूनाधिकभावस्य निबन्धनाव[1]भविष्यतां संयमभेदोऽप्यभविष्यत् । न चैवम्, संयमं प्रति द्वयोरविशेषात् । ततो न सूक्ष्मसाम्परायसंयमस्य तद्द्वारेण द्वैविध्यमिति । तद्द्वारेण संयमस्य द्वैविध्याभावे पञ्चविधसंयमोपदेशः कथं घटत इति चेन्मा घटिष्ट । तर्हि कतिविधः संयमः ? चतुर्विधः, पञ्चमस्य संयमस्यानुपलम्भात् । सुगममन्यत् ।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चतुर्थसंयमस्याध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा चदुसु ट्ठाणेसु उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति[2] ॥ १२८ ॥

समाधान— आदिके दो विकल्प तो ठीक नहीं हैं, क्योंकि, वैसा हमने माना नहीं है । इसी प्रकार तीसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी संभव नहीं है, क्योंकि, पंचयम और एकयमके भेदसे संयममें कोई भेद ही संभव नहीं है । यदि एकयम और पंचयम संयमके न्यूनाधिकभावके कारण होते तो संयममें भेद भी हो जाता । परंतु ऐसा है नहीं, क्योंकि, संयमके प्रति दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है । अतः सूक्ष्मसांपराय संयमके उन दोनोंकी अपेक्षा दो भेद नहीं हो सकते हैं ।

शंका— जब कि उन दोनोंकी अपेक्षा संयमके दो भेद नहीं हो सकते हैं तो पांच प्रकारके संयमका उपदेश कैसे बन सकता है ?

समाधान— यदि पांच प्रकारका संयम घटित नहीं होता है तो मत होओ ।

शंका— तो संयम कितने प्रकारका है ?

समाधान— संयम चार प्रकारका है, क्योंकि, पांचवा संयम पाया ही नहीं जाता है । शेष कथन सुगम है ।

विशेषार्थ— सामायिक और छेदोपस्थापना संयममें विवक्षा भेदसे ही भेद है वास्तवमें नहीं, अतः ये दोनों मिलकर एक और शेषके तीन इसप्रकार संयम चार प्रकारके होते हैं ।

अब चौथे संयमके गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

यथाख्यात-विहार-शुद्धि-संयत जीव उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गणस्थानोंमें होते हैं ॥ १२८ ॥

१ मु. नावेवा ।

२ यथाख्यातविहारशुद्धिसंयताः उपशान्तकषायाद्ययोगकेवल्यन्ताः । स. सि. १. ८.

सुगमत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति ।

देशविरतगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह--

संजदासंजदा एक्कम्मि चेय संजदासंजद-ट्ठाणे[1] ॥१२९॥

सुगममेतत् ।

असंयतगुणस्य गुणस्थानप्रमाणनिरूपणार्थमाह--

असंजदा एइंदिय-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति[2] ॥१३०॥

मिथ्यादृष्टयोऽपि केचित्संयता दृश्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वमन्तरेण संयमानुपपत्तेः । सिद्धानां कः संयमो भवतीति चेन्नैकोऽपि । यथा बुद्धिपूर्वकनिवृत्तेरभावान्न संयतास्तत एव न संयतासंयताः नाप्यसंयताः प्रणष्टाशेषपापक्रियत्वात् ।

संयमद्वारेण जीवपदार्थमभिधाय साम्प्रतं दर्शनमुखेन जीवसत्तानिरूपणार्थमाह--

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओधिदंसणी केवलदंसणी चेदि[3] ॥१३१॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां विशेष कुछ कहने योग्य नहीं है ।

अब देशविरत गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

संयतासंयत जीव एक संयतासंयत गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १२९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अब असंयतगुणके गुणस्थानोंके प्रमाणके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

असंयत जीव एकेन्द्रियसे लेकर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक होते हैं ॥ १३० ॥

शंका-- कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव संयत देखे जाते है ?

समाधान-- नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके बिना संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

शंका-- सिद्ध जीवोंके कौनसा संयम होता है ?

समाधान-- एक भी संयम नहीं होता है । उनके बुद्धिपूर्वक निवृत्तिका अभाव होनेसे जिसलिये वे संयत नहीं हैं, इसलिये संयतासंयत नहीं है और असंयत भी नहीं है, क्योंकि, उनके संपूर्ण पापरूप क्रियाएं नष्ट हो चुकी हैं ।

संयममार्गणाके द्वारा जीव-पदार्थका कथन करके अब दर्शनमार्गणाके द्वारा जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शनके धारण करनेवाले जीव होते हैं ॥ १३१ ॥

---

१ संयतासंयता एकस्मिन्नेव संयतासंयतस्थाने । स. सि. १. ८.

२ असंयताः आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानेषु । स. सि. १. ८.

३ भावचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च चक्षुर्दर्शनिनश्चक्षुर्दर्शनलब्धिमतो

चक्षुषा सामान्यस्यार्थस्य ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम् । अथ स्याद्विषयविषयिसम्पातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । न तेन बाह्यार्थगतविधिसामान्यं परिच्छिद्यते, तस्यावस्तुनः कर्मत्वाभावात् । अविषयीकृतप्रतिषेधस्य ज्ञानस्य विधौ प्रवृत्तिविरोधात् । विधिः[1] प्रतिषेधाद् व्यावृत्तो गृह्यतेऽव्यावृत्तो वा ? आद्ये न विधिसामान्यग्रहणम् प्रतिषेधेन सह विध्युपादानात् । द्वितीये न च तद्विधिग्रहणम्,[2] विधिप्रतिषेधोभयग्रहणे तस्यान्तर्भावात् । न बाह्यार्थगतप्रतिषेधसामान्यमपि परिच्छिद्यते विधिपक्षोक्तदोषदूषितत्वात् । तस्माद्विधिनिषेधात्मकबाह्यार्थग्रहणमवग्रहः । न स दर्शनम्, सामान्य-

चक्षुके द्वारा सामान्य पदार्थके ग्रहण करनेको चक्षुदर्शन कहते हैं ।

शंका--- विषय और विषयीके योग्य संबन्धके अनन्तर प्रथम ग्रहणका नाम अवग्रह है । उस अवग्रहके द्वारा बाह्य अर्थमें रहनेवाले विधि-सामान्यका ज्ञान तो हो नहीं सकता है, क्योंकि, बाह्य अर्थमें रहनेवाला विधि सामान्य अवस्तु है इसलिये वह कर्म अर्थात् ज्ञानका विषय नहीं हो सकता है । दूसरे जिस ज्ञानने प्रतिषेधको विषय नहीं किया है उसकी विधिमें प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है । इसलिये विधिका प्रतिषेधसे व्यावृत्त होकर ग्रहण होता है या अव्यावृत्त होकर ग्रहण होता है ? प्रथम विकल्पके मानने पर केवल विधिसामान्यका ग्रहण तो बन नहीं सकता है, क्योंकि, प्रतिषेधके साथ ही विधिका ग्रहण होता है । तथा दूसरे विकल्पके मानने पर उसे केवल विधिग्रहण नहीं कह सकते, क्योंकि, विधि और प्रतिषेध इन दोनोंके ग्रहणमेंही प्रतिषेधसे अव्यावृत्त विधिका अन्तर्भाव हो जाता है । इसी प्रकार बाह्य अर्थमें रहनेवाले प्रतिषेधसामान्यका भी ग्रहण नहीं बन सकता है, क्योंकि, विधि पक्षमें जो दोष दे आये हैं वे सब यहां पर भी लागू पड़ते हैं । इसलिये विधि-निषेधात्मक बाह्य पदार्थके ग्रहणको अवग्रह

जीवस्य घटादिषु द्रव्येषु चक्षुषा दर्शनं चक्षुर्दर्शनम् । सामान्यविषयत्वेऽपि चास्य यद् घटादिविशेषाभिधानं तत्सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदभेदादेकान्तेन विशेषेभ्यो व्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याग्रहणख्यापनार्थम् । उक्तं च 'निर्विशेषं विशेषाणां ग्रहो दर्शनमुच्यते ' इत्यादि । चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयं मनश्चाचक्षुरुच्यते, तस्य दर्शने न चक्षुर्दर्शनं, तदपि भावचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियानुपघाताच्च अचक्षुर्दर्शनिनोऽचक्षुर्दर्शनलब्धिमतो जीवस्यात्मभावे भवति । × × इदमुक्तं भवति, चक्षुरप्राप्यकारि, ततो दूरस्थमपि स्वविषयं परिच्छिनत्तीति । × × श्रोत्रादीनि तु प्राप्यकारीणि, ततो द्रव्येन्द्रियसंश्लेषद्वारेण जीवेन सह सम्बद्धमेव विषयं परिछिन्दन्तीत्येतद्दर्शनार्थमात्मभावि भवति । × × अवधेर्दर्शनमवधिदर्शनम् । अवधिदर्शनिनोऽवधिदर्शनावरणक्षयोपशमसमुद्भूतावधिदर्शनलब्धिमतो जीवस्य सर्वरूपिद्रव्येषु भवति, न पुनः सर्वपर्यायेषु । यतोऽवधेरुत्कृष्टतोऽप्येकवस्तुगता संख्येया असंख्येया वा पर्याया विषयत्वेनोक्ताः । × × ननु पर्याया विशेषा उच्यन्ते, न च दर्शनं विशेषविषयं भवितुमर्हति ज्ञानस्यैव तद्विषयत्वात् कथमिहावधिदर्शनविषयत्वेन पर्यायाः निर्दिष्टाः? साधूक्तं, केवलं पर्यायैरपि घटशरावोदञ्चनादिभिर्मृदादिसामान्यमेव तथा तथा विशिष्यते न पुनस्तेन एकान्तेन व्यतिरिच्यन्ते, अतो मुख्यतः सामान्यं, गुणीभूतास्तु विशेषा अप्यस्य विषयीभवन्ति । केवलं सकलदृश्यविषयत्वेन परिपूर्णं दर्शनं, केवलदर्शनिनस्तदावरणक्षयाविर्भूततल्लब्धिमतो जीवस्य सर्वद्रव्येषु मूर्तामूर्तेषु सर्वपर्यायेषु च भवतीति । मनःपर्यायज्ञानं तु तथाविधक्षयोपशमपाटवात् सर्वदा विशेषानेव गृह्णदुत्पद्यते, न सामान्यम् अतस्तद्दर्शनं नोक्तमिति । अनु. (अभि. रा. को. दंसणगुणप्पमाण.)

१ मु. विधेः । २ मु. द्वितीये न तद्वि ग्रहणं ।

ग्रहणस्य दर्शनव्यपदेशात् । ततो न चक्षुर्दर्शनमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते, नैते दोषाः दर्शनमाढौकन्ते, तस्यान्तरङ्गार्थविषयत्वात् । अन्तरङ्गार्थोऽपि सामान्यविशेषात्मक इति । तद्विधिप्रतिषेधसामान्ययोरुपयोगस्य क्रमेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरक्रमेण तत्रोपयोगस्य प्रवृत्तिरङ्गीकर्तव्या । तथा च न सोऽन्तरङ्गोपयोगोऽपि दर्शनम्, तस्य सामान्यविशेषविषयत्वादिति चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्यात्मनः सामान्यशब्दवाच्यत्वेनोपादानात् । तस्य कथं सामान्यतेति चेदुच्यते—चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो हि नाम रूप एव नियमितस्ततो रूपविशिष्टस्यैवार्थग्रहणस्योपलम्भात् । तत्रापि रूपसामान्य एव नियमितः, ततो नीलादिष्वेकरूपेणैव विशिष्टवस्त्वनुपलम्भात् । तस्माच्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो रूपविशिष्टार्थं प्रति समानः, आत्मव्यतिरिक्तक्षयोपशमाभावाद्वात्मापि तद्द्वारेण समानः, तस्य भावः सामान्यम्, तद्दर्शनस्य विषय इति स्थितम् ।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अथ स्याच्चक्षुषा यत्प्रकाशते तद्दर्शनम् । न चात्मा चक्षुषा प्रकाशते,

---

मानना चाहिये। परंतु वह अवग्रह दर्शनरूप तो हो नहीं सकता है, क्योंकि, जो सामान्यको ग्रहण करता है उसे दर्शन कहा है। अतः चक्षुदर्शन नहीं बनता है ?

समाधान— ऊपर दिये गये सब दोष दर्शनको नहीं प्राप्त होते हैं, क्योंकि, वह अन्तरंग पदार्थको विषय करता है। और अन्तरंग पदार्थ भी सामान्य-विशेषात्मक होता है। इसलिये विधिसामान्य और प्रतिषेधसामान्यमें उपयोगकी क्रमसे प्रवृत्ति नहीं बनती है, अतः उनमें उपयोगकी अक्रमसे प्रवृत्ति स्वीकार करना चाहिये। अर्थात् दोनोंका युगपत् ही ग्रहण होता है।

शंका— इस कथनको मान लेने पर भी वह अन्तरंग उपयोग दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि, उस अन्तरंग उपयोगका सामान्यविशेषात्मक पदार्थ विषय मान लिया है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यहांपर सामान्यविशेषात्मक आत्माका सामान्य शब्दके वाच्यरूपसे ग्रहण किया है।

शंका— उसको सामान्यपना कैसे है ?

समाधान— चक्षु इन्द्रियावरणका क्षयोपशम रूपमें ही नियमित है। इसलिये उससे रूपविशिष्ट ही पदार्थका ग्रहण पाया जाता हैं। वहांपर भी चक्षुदर्शनमें रूपसामान्य ही नियमित है, इसलिये उससे नीलादिकमें किसी एक रूपके द्वारा ही विशिष्ट वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती है। अतः चक्षु इन्द्रियावरणका क्षयोपशम रूपविशिष्ट अर्थके प्रति समान है। और आत्माको छोडकर क्षयोपशम पाया नहीं जाता है इसलिये आत्मा भी क्षयोपशमकी अपेक्षा समान है। और उस समानके भावको सामान्य कहते है। वह दर्शनका विषय है।

शंका— चक्षु इन्द्रियसे जो प्रकाशित होता है उसे दर्शन कहते हैं। परंतु आत्मा तो चक्षु इन्द्रियसे प्रकाशित होता नहीं, क्योंकि, चक्षु इन्द्रियसे आत्माकी उपलब्धि होती हुई नहीं देखी जाती है। चक्षु इन्द्रियसे रूपसामान्य और रूपविशेषसे युक्त पदार्थ प्रकाशित

तथानुपलम्भात्। प्रकाशते च रूपसामान्यविशेषविशिष्टोऽर्थः[1]। न स दर्शनम्, अर्थस्योपयोगरूपत्वविरोधात्। न तस्योपयोगोऽपि दर्शनम्, तस्य ज्ञानरूपत्वात्। ततो न चक्षुर्दर्शनमिति ? न, चक्षुर्दर्शनावरणीयस्य कर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेः, आवार्याभावे आवारकस्या[2]प्यभावात्। तस्माच्चक्षुर्दर्शनमन्तरङ्गविषयमित्यङ्गीकर्तव्यम्। किं च निद्रानिद्रादीनि कर्माणि न ज्ञानप्रतिबन्धकानि, ज्ञानावरणाभ्यन्तरे तेषामपाठात्। नान्तरङ्गबहिरङ्गार्थविषयोपयोगद्वयप्रतिबन्धकानि, एवमपि ज्ञानावरणस्यैवान्तर्भावात्। नान्तरङ्गबहिरङ्गार्थविषयोपयोगसामान्यप्रतिबन्धकानि, जाग्रदवस्थायां छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगयोरक्रमेण वृत्तिप्रसङ्गात्। ततो दर्शनावरणीयकर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेरन्तरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धकं दर्शनावरणीयम्, बहिरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धकं ज्ञानावरणमिति प्रतिपत्तव्यम्। आत्मविषयोपयोगस्य दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे आत्मनो विशेषाभावाच्चतुर्णामपि दर्शनानामविशेषः स्यादिति चेन्नैष दोषः, यद्यस्य ज्ञानस्योत्पादकं स्वरूपसंवे[illegible]-

---

होता है। परंतु पदार्थ तो उपयोगरूप हो नहीं सकता, क्योंकि, पदार्थको उपयोगरूप माननेमें विरोध आता है। पदार्थका उपयोग भी दर्शन नही हो सकता है, क्योंकि, वह उपयोग ज्ञानरूप पडता है। इसलिये चक्षुदर्शनका अस्तित्व नहीं बनता है।

समाधान— नहीं, क्योंकि, यदि चक्षुदर्शन नहीं हो तो चक्षुदर्शनावरण कर्म नही बन सकता है, क्योंकि, आवार्यके अभावमें आवारकका भी अभाव हो जाता है। इसलिये अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाला चक्षुदर्शन है यह बात स्वीकार कर लेना चाहिये। दूसरे निद्रानिद्रा आदि कर्म ज्ञानके प्रतिबन्धक नहीं हैं, क्योंकि, ज्ञानावरण कर्मके भेदोंमें इन निद्रानिद्रा आदि कर्मोंका पाठ नहीं है। तथा निद्रानिद्रा आदि कर्म अन्तरंग और बहिरंग पदार्थोंको विषय करनेवाले दोनों उपयोगोंके भी प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने पर भी निद्रानिद्रादिकका ज्ञानावरणके भीतर ही अन्तर्भाव होना चाहिये था। परंतु ऐसा नहीं है, अतः निद्रानिद्रादिक दोनों उपयोगके भी प्रतिबन्धक नहीं हैं। निद्रानिद्रादिक अन्तरंग और बहिरंग पदार्थोंको विषय करनेवाले उपयोग सामान्यके भी प्रतिबन्धक नहीं हैं, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर जाग्रत् अवस्थामें छद्मस्थके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगकी युगपत् प्रवृत्तिका प्रसंग आ जायगा। इसलिये दर्शन यदि न हो तो दर्शनावरण कर्मका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक दर्शनावरण कर्म है और बहिरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है ऐसा जानना चाहिये।

शंका— आत्माको विषय करनेवाले उपयोगको दर्शन स्वीकार कर लेनेपर आत्मामें कोई विशेषता नहीं होनेसे चारों दर्शनोंमें भी कोई भेद नहीं रह जायगा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जो जिस ज्ञानका उत्पन्न करनेवाला

---

१ मु. विशिष्टार्थः।　　　२ मु. राधार्याभावे आधारकस्या।

नियमः । यावन्तश्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमजनितज्ञानस्य विषयभावमापन्नाः पदार्थास्तावन्त एवात्मस्थक्षयोपशमास्तत्तत्संज्ञामानस्तद्द्वारेणात्मापि तावानेव, तच्छक्तिखचितात्मपरिच्छित्तिर्दर्शनम् । न चैतत्काल्पनिकं परमार्थत एव परोपदेशमन्तरेण शक्त्या सहात्मनः उपलम्भात् । न दर्शनानामक्रमेण प्रवृत्तिर्ज्ञानानामक्रमेणोत्पत्त्यभावतस्तदभावात् । एवं शेषदर्शनानामपि वक्तव्यम् । ततो न दर्शनानामेकत्वमिति उक्तं च—

> चक्खूण जं पयासदि दिस्सदि तं चक्खु–दंसणं बेंति ।
> सेसिंदिय-प्पयासो णादव्वो सो अचक्खु त्ति[1] ॥ १९५ ॥
> परमाणु-आदियाइं अंतिम-खंधं ति मुत्ति-दव्वाइं ।
> तं ओधि–दंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं[2] ॥ १९६ ॥
> बहुविह बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्हि खेत्तम्हि ।
> लोगालोग अतिमिरो जो केवलदंसणुज्जोवो[3] ॥ १९७ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्वरूपसंवेदन है उसको उसी नामका दर्शन कहा जाता है। इसलिये दर्शनके चार प्रकारके होनेका कोई नियम नहीं है। चक्षु इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए ज्ञानके विषयभावको प्राप्त जितने पदार्थ हैं उतने ही आत्मामें स्थित क्षयोपशम उन उन संज्ञाओंको प्राप्त होते हैं। और उनके निमित्तसे आत्मा भी उतने ही प्रकारका हो जाता है। अतः इस प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त आत्माके संवेदन करनेको दर्शन कहते है। यह सब कथन काल्पनिक भी नहीं है, क्योंकि, परोपदेशके बिना अनेक शक्तियोंसे युक्त आत्माकी परमार्थसे उपलब्धि होती है। सभी दर्शनोंकी अक्रमसे प्रवृत्ति होती है सो बात भी नहीं है, क्योंकि, ज्ञानोंकी एकसाथ उत्पत्ति नहीं होती है, अतः संपूर्ण दर्शनोंकी भी एकसाथ उत्पत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार शेष दर्शनोंका भी कथन करना चाहिये। इसलिये दर्शनोंमें एकता अर्थात् अभेद सिद्ध नहीं हो सकता है। कहा भी है—

जो चक्षुइन्द्रियके द्वारा प्रकाशित होता है अथवा दिखाई देता है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। तथा शेष इन्द्रिय और मनसे जो प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं ॥१९५॥

परमाणुसे आदि लेकर अन्तिम स्कन्धपर्यन्त मूर्त पदार्थोंको जो प्रत्यक्ष देखता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं ॥ १९६ ॥

अपने अपने अनेक प्रकारके भेदोंसे युक्त बहुत प्रकारके प्रकाश इस परिमित क्षेत्रमें ही पाये जाते हैं। परंतु जो केवल दर्शनरूपी उद्योत है वह लोक और अलोकको भी तिमिर रहित कर देता है ॥ १९७ ॥

१ प्रा. पं. १,१३९। गो. जी. ४८४.　　२ प्रा. पं. १,१४०। गो. जी. ४८५
३ प्रा. पं. १,१४१। गो. जी. ४८६

चक्षुर्दर्शनाध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

चक्खु-दंसणी चउरिंदिय-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥१३२॥

सुगममेतत् ।

अचक्षुर्दर्शनस्याधिपतिप्रतिपादनार्थमाह—

अचक्खु-दंसणी एइंदिय-प्पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति ॥१३३॥

दृष्टार्थ[1]स्मरणमचक्षुर्दर्शनमिति केचिदाचक्षते तन्न घटते एकेन्द्रियेषु चक्षुरभावतोऽचक्षुर्दर्शनस्याभावासक्तात्[3] । दृष्टशब्द उपलम्भवाचक इति चेन्न, उपलब्धार्थविषयस्मृतेर्दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे मनसो निर्विषयतापत्तेः । ततः स्वरूपसंवेदनं दर्शनमित्यङ्गीकर्तव्यम् । ज्ञानमेव द्विस्वभावं किन्न स्यादिति चेन्न, स्वस्माद्भिन्न-

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अब चक्षुदर्शनसंबन्धी गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

चक्षुदर्शन उपयोगवाले जीव चतुरिन्द्रियसे लेकर क्षीणकषाय-छद्मस्थ-वीतराग गुणस्थान तक होते है ॥ १३२ ॥

इसका अर्थ सरल है ।

अब अचक्षुदर्शनके स्वामी बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

अचक्षुदर्शन उपयोगवाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं ॥ १३३ ॥

दृष्टार्थ अर्थात् देखे हुए पदार्थका स्मरण करना अचक्षुदर्शन है, इस प्रकार कितने ही पुरुष कहते हैं। परंतु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर एकेन्द्रिय जीवोंमें चक्षुइन्द्रियका अभाव होनेसे उनके अचक्षुदर्शनके अभावका प्रसंग आजायगा ।

शंका— दृष्टान्तमें 'दृष्ट' शब्द उपलम्भवाचक ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उपलब्ध पदार्थको विषय करनेवाली स्मृतिको दर्शन स्वीकार कर लेनेपर मनको विषय रहितपनेकी आपत्ति आजाती है । इसलिये स्वरूपसंवेदन दर्शन है ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये ।

शंका— ज्ञान ही दो स्वभाववाला क्यों नहीं मान लिया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अपनेसे भिन्न वस्तुका परिच्छेदक ज्ञान है और अपनेसे अभिन्न वस्तुका परिच्छेदक दर्शन है, इसलिये इन दोनोंमें एकपना नहीं बन सकता है ।

१ दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनयोर्मिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि सन्ति । स. सि. १. ८.

२ मु. दृष्टान्त । ३ मु. सञ्जननात् ।